॥ श्रीः ॥

कामन्दकीयनीतिसारः ।

मुरादाबादस्थ पं० ज्वालाप्रसादजी मिश्र
कृत भाषाटीका सहितः ।

जिसको
खेमराज श्रीकृष्णदासने
बंबई
निज "श्रीवेङ्कटेश्वर" (स्टीम्) यन्त्रालयमें
मुद्रितकर प्रसिद्ध किया ।

संवत् १९६१, शके १८२६.

...ङ्कटेश्वर" प्रेसाध्यक्षने स्वाधीन रक्खाहै ।

भूमिका ।

{सं}सारकी अपनी मर्यादामें स्थिति राजशासनके अधीन है, वह शासन नियमोंके अनुसार होता है उसको राजनीति कहते हैं, उस नीतिके {अनुस}ार वर्तनेसे राजाको इस लोकमें यश और परलोकमें आनन्द प्राप्त होता {य}द्यपि भारतवर्षकी पुरातन राजनीतिके पूरे ग्रन्थ इस समय सर्वथा नहीं होते, पर तोभी जो कुछ मिलते हैं उनमें बहुत कुछ भरा पडा {उ}नमेंसे हम आज एक ग्रन्थ कामन्दकीय नीतिसारका अनुवाद करके दिखलाना चाहते हैं कि नीतिसार होनेपर भी इसके समस्त विषय राजोंके परम उपयोगी हैं, यदि महीपालगण ऐसे ग्रन्थोंका अपने कुमारोंको अभ्यास करावें, तो वह प्रजापालन कोषवृद्धि सदाचरणमें धर्मप्रचारमें बहुत कुछ वृद्धि करसकते हैं, इस अवसरमें हम महा-{मान्य}म गुणिजनमण्डलीमण्डन गढवाल टिहरीनरेश महाराजाधिराज १०८ श्रीकीर्तिसाहजी बहादुर के. सी. एस. आई. महोदयको अनेक {धन्य}वाद करते हैं कि, जो ऐसे पुरातन ग्रन्थोंके अनुशीलनपूर्वक पुरातन नीतिग्रन्थोंका आदर करते हुए धर्मसे प्रजापालन करते हैं, यदि इसी {प्रका}र अन्य महीपति इस ओर दत्तचित हों तो देशकी पुरातन राजनीतिके फिर जगमगा उठें, और राजा प्रजामें धर्मकी वृद्धि दिनोंदिन रहै.

इस ग्रन्थमें राजनीति सम्बन्धी प्रायः समस्तही विषयोंपर विचार किया है जिनमें यह भलीभाँति प्रगट होजाता है कि, राजोंके कृत्य क्या हैं {औ}र राजकुमारोंके कर्तव्य, राजा प्रजाका सम्बन्ध, सेना, व्यूह, राजकर्म-{चारिय}ों, दुर्गादिनिर्माण, पर्यटन सभाप्रवेश आदि अनेक विषय बडी गवेष-{णा}के साथ लिखेगये हैं जिनका वर्णन १९ सर्गोंमें इस ग्रन्थमें वर्णन {कि}या गया है

यह ग्रन्थरत्न आजतक केवल संस्कृतमें ही था, पर अब सबके निमित्त वैश्यवंशदिवाकर सनातनधर्मप्रचारनिरत 'श्रीवेङ्कटेश्वर' यन्त्राध्यक्ष सेठजी श्रीयुत खेमराज श्रीकृष्णदासजी महोदयकी अनुमतिसे का भाषानुवाद किया गया है, और आशा है कि यह ग्रन्थ . . . . . शिक्षामें परमोपयोगी होगा, और सर्व साधारण भी इसके अवलोकनसे राजकर्मचारी होनेकी योग्यता तथा राजकाजमें चतुराई प्राप्त करसकते हैं।

यद्यपि इसके अनुवादमें बहुत कुछ सावधानी कीगई है, तथापि यदि कहीं अनुवादमें भूल रहगई हो तो सज्जन विद्वान् कृपाकर उसे सु लेंगे वह आगामीबारमें ठीक करदीजायगी।

मुझे आशा है कि, विद्वज्जन इस ग्रन्थका अवलोकनकर मुझे अनुगृहीत करेंगे, यह परमोत्तम ग्रन्थ घरघरमें विराजकर राजकाजमें दक्षता प्राप्त कराकर त्रिवर्ग साधन करावे इसी कारणसे विख्यात पत्र "श्रीवेङ्कटेश्वर समाचार" के उपहारमें वितरण करनेका संकल्प किया गया है।

सज्जनोंका अनुगृहीत–

पं० ज्वालाप्रसादमिश्र,

मुहल्ला दिनदारपुरा

मुरादाबाद.

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

कामन्दकीयनीतिसारः।

भाषाटीकासहितः।

प्रथमः सर्गः १.

यस्य प्रभावाद्भुवनं शाश्वते पथि तिष्ठति ।
देवः स जयति श्रीमान् दण्डधारो महीपतिः ॥ १ ॥

दोहा–जिनकी कृपाकटाक्षसे, सिद्ध होत सब काम ।
जन ज्वालाप्रसादपर, द्रवहु राम घनश्याम ॥ १ ॥

जिसके प्रभावसे यह त्रिभुवन सनातन मर्यादा नीतिमार्गमें निरन्तर स्थिति करताहै उस परात्पर दण्डधारी परमेश्वरकी सदा जय हो, अथवा जिसके प्रतापसे यह भूमण्डल निरन्तर धर्ममार्गमें प्रवर्तित होताहै, उस प्रबल प्रतापी राजाकी सदा जय हो ॥ १ ॥

वंशे विशालवंश्यानामृषीणामिव भूयसाम् ।
अप्रतिग्राहकाणां यो बभूव भुवि विश्रुतः ॥ २ ॥

जिसने अप्रतिग्रहशील विशालकुलमें बडे महर्षियोंकी समान प्रसिद्धवंशमें जन्म ग्रहण कियाहै जो पृथ्वीमें विख्यातहै ॥ २ ॥

जातवेदा इवार्चिष्मान् वेदान् वेदविदां वरः ।
योऽधीतवान् सुचतुरश्चतुरोऽप्येकवेदवत् ॥ ३ ॥

जो अग्निके समान तेजस्वी जिसने एक वेदके समान ऋक्, यजुः, साम, अथर्व, चारों वेदोंका अध्ययन कियाहै ॥ ३ ॥

यस्याभिचारवज्रेण वज्रज्वलनतेजसः ।
पपात मूलतः श्रीमान् सुपर्वा नन्दपर्वतः ॥ ४ ॥

जो वज्र और अग्निके समान तेजस्वी जिसके मन्त्राभिचाररूप वज्र-प्रहारसे उन्नत पर्ववाला श्रीमान नन्दवंशरूप पर्वत समूल नष्ट होगया ॥४॥

एकाकी मन्त्रशक्त्या यः शक्त्या शक्तिधरोपमः ।
आजहार नृचन्द्राय चन्द्रगुप्ताय मेदिनीम् ॥ ५ ॥

जो पराक्रममें साक्षात कार्तिकेयके समान जिसने इकलेही मन्त्ररूप शक्तिके प्रभावसे चन्द्रगुप्तराजाको साम्राज्य दिया ॥ ५ ॥

नीतिशास्त्रामृतं धीमानर्थशास्त्रमहोदधेः ।
समुद्दध्रे नमस्तस्मै विष्णुगुप्ताय वेधसे ॥ ६ ॥

जिसने अर्थशास्त्ररूप महासमुद्रसे नीतिशास्त्ररूप अमृत निकाला उस असीमगुणसम्पन्न विष्णुगुप्त (चाणक्य) के निमित्त नमस्कारहै ॥ ६ ॥

दर्शनात् तस्य सुदृशो विद्यानां पारदृश्वनः ।
राजविद्याप्रियतया संक्षिप्तग्रन्थमर्थवत् ॥ ७ ॥

आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति प्रभृति सर्वशास्त्रविशारद निर्मलज्ञानसम्पन्न उस गुरुवर विष्णुगुप्तप्रणीत शास्त्रका अनुशीलन करके मैंने जो ज्ञान प्राप्तकियाहै उसके अनुसार राजनीतिप्रियताके कारण संक्षेपसे यह "नीतिग्रन्थ" प्रकाश करताहूं ॥ ७ ॥

उपार्जने पालने च भूमेर्भूमीश्वरं प्रति ।
यत्किञ्चिदुपदेक्ष्यामो राजविद्याविदां मतम् ॥ ८ ॥

राज्यलाभ और राज्यप्रतिपालनसम्बन्धमें राजाको जो उपाय अवलम्बन करने उचितहैं, हम इस ग्रन्थमें वह वर्णन करतेहैं ॥ ८ ॥

राजाऽस्य जगतो हेतुर्वृद्धेर्वृद्धाभिसम्मतः ।
नयनानन्दजननः शशाङ्क इव तोयधेः ॥ ९ ॥

सर्वप्रधान प्रथम राजाहीका वर्णन करते हैं कि, इस जगतकी उन्नतिका

एकमात्र राजाही हेतुहै, यह वृद्धजनोंने कहाहै, चन्द्रमा जिसप्रकार समुद्रको आल्हादित करताहै, इसीप्रकार राजा प्रजाके नेत्रोंको आनन्द देताहै ॥९॥

यदि न स्यान्नरपतिः सम्यङ्नेता ततः प्रजा ।
अकर्णधारा जलधौ विप्लवेतेह नौरिव ॥ १० ॥

यदि भलीप्रकार शिक्षा करनेवाला राजा न हो तो समुद्रमें कर्णधारहीन नौकाकी समान प्रजागण विपत्तिको प्राप्तहोजाँय ॥ १० ॥

धार्मिकं पालनपरं सम्यक् परपुरञ्जयम् ।
राजानमभिमन्येत प्रजापतिमिव प्रजा ॥ ११ ॥

धर्मानुसार भलीप्रकार पक्षपातरहित होकर पुत्रके समान प्रजापालनमें तत्पर शत्रुनाशक राजाको प्रजापति अर्थात् सृष्टिकर्त्ताकी समान प्रजा सर्व-भावसे सन्मान करतीहै ॥ ११ ॥

प्रजां संरक्षति नृपः सा वर्द्धयति पार्थिवम् ॥
वर्द्धनाद्रक्षणं श्रेयस्तदभावे सदप्यसत् ॥ १२ ॥

राजा दण्डयोग्योंको दण्डविधान और अदण्ड व्यक्तियोंको सन्मान-पूर्वक प्रजाओंको भलीप्रकार शत्रुओंके हाथसे रक्षा करके पालन करताहै तो प्रजागणभी धान्य धनादिद्वारा प्राणपणसे राजाकी सम्पत्ति बढ़ाती है बढ़ना और पालना इनमें पालनाही श्रेयस्करहै. कारण कि, शत्रुओंके हाथसे प्रजाकी रक्षा न करनेसे राजाका मंगल नहीं होता ॥ १२ ॥

न्यायप्रवृत्तो नृपतिरात्मानमपि च प्रजाः ।
त्रिवर्गेणोपसन्धत्ते निहन्ति ध्रुवमन्यथा ॥ १३ ॥

जिस समय राजा न्यायपरायण होता है तब वह अपनेको और प्रजाको भी त्रिवर्ग अर्थ, धर्म, काम, का साधन करासकता है, अन्यथा अवश्यही त्रिवर्गका नाशक होता है ॥ १३ ॥

धर्माद्वै यवनो राजा चिराय बुभुजे भुवम् ।
अधर्माच्चैव नहुषः प्रतिपेदे रसातलम् ॥ १४ ॥

धर्मसे यवनराजानेभी चिरकालतक पृथ्वीको भोगाहै और अधर्म करनेसे राजा नहुष शीघ्रही रसातलको प्राप्त हुआ [नहुष राजा बडा धर्मात्मा था जब एक समय इन्द्र अपने अमरराजसे वर्जित हुए, तब महर्षियोंने इनकोही अमरावतीका राजा किया। तब इन्होंने इन्द्राणीकी अभिलाषा की और उसके प्राप्त करनेको उसकी प्रतिज्ञानुसार महर्षियोंको पालकीमें लगाया वे इनकी पालकी लेकर चले और राजा शीघ्र चलनेकेलिये सर्प २ कहने लगे, जिससे उनको क्रोध हुआ। तब राजाके चरणप्रहार करनेपर दुर्वासाने शाप दिया कि, तुम शीघ्रही सर्प होकर पृथ्वीमें गिरो, राजा तुरत अजगर हो गिरा उसका धर्मराज युधिष्ठिरने उद्धार किया] ॥ १४ ॥

तस्माद्धर्मं पुरस्कृत्य यतेतार्थाय पार्थिवः ।
धर्मेण वर्द्धते राज्यं तस्य स्वादु फलं श्रियः ॥ १५ ॥

इसकारण धर्मकोही आगे करके राजाको अर्थप्राप्तिमें यत्न करना चाहिये धर्मसे राज्य बढताहै और लक्ष्मी उसका स्वादु फलहै ॥ १५ ॥

स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रश्च दुर्गं कोषो बलं सुहृत् ।
एतावदुच्यते राज्यं सत्वबुद्धिव्यपाश्रयः ॥ १६ ॥

स्वामी, मंत्री, राज्य, दुर्ग, कोष (खजाना), सेना, मित्रवर्ग इन सबका नाम राज्यहै कि सत्वगुणी बुद्धिका आश्रय करै ॥ १६ ॥

आलम्ब्य बलवत्सत्त्वं बुद्ध्यालोकितनिर्गमः ।
सप्ताङ्गस्यास्य लाभाय यतेत सततोत्थितः ॥ १७ ॥

बलपूर्वक सत्त्वगुणका अवलम्बनकर बुद्धिसे निर्गमके उपायको देखता हुआ राजा निरन्तर जागताहुआसा इन सातोंअंगोंके लाभका यत्नकरै॥ १७॥

न्यायेनार्जनमर्थस्य रक्षणं वर्द्धनं तथा ।
सत्पात्रप्रतिपत्तिश्च राजवृत्तं चतुर्विधम् ॥ १८ ॥

न्यायद्वारा धनका उपार्जन, उसकी रक्षा, और बढाना, तथा सत्पात्रमें उसका निक्षेप यह चारप्रकारकी राजाकी कर्तव्यता है ॥ १८ ॥

नयविक्रमसम्पन्नः सूत्थानश्चिन्तयेच्छ्रियम् ।
नयस्य विनयो मूलं विनयः शास्त्रनिश्चयः ॥ १९ ॥

नीति और पराक्रमसम्पन्न राजा उन्नतिकी इच्छावाला लक्ष्मीकी चिन्ता करताहै कि, यह किसप्रकार वृद्धिको प्राप्तहोगी विनय नीतिका मूलहै विनयही शास्त्रका निश्चयहै ॥ १९ ॥

विनयो हीन्द्रियजयस्तद्युक्तः शास्त्रमृच्छति ।
तन्निष्ठस्य हि शास्त्रार्थाः प्रसीदन्ति ततः परम् ॥ २० ॥

विनयही इन्द्रियजयमें साधकहै इस विनयसे युक्तहुआ पुरुषही शास्त्रको प्राप्तहोताहै इसमें निष्ठा करनेके उपरान्तही सम्पूर्ण शास्त्रोंके अर्थ प्रकाशित होते हैं ॥ २० ॥

शास्त्रं प्रज्ञा धृतिर्दाक्ष्यं प्रागल्भ्यं धारयिष्णुता ।
उत्साहो वाग्मिता दार्ढ्यमापत्क्लेश सहिष्णुता ॥ २१ ॥

शास्त्र, बुद्धि, धृति (धीरता), दक्षता, प्रगल्भता धारणाशक्ति, उत्साह, बोलनेमें चतुराई, दृढता दुःखमें क्लेश सहनेका अभ्यास ॥ २१ ॥

प्रभावः शुचिता मैत्री त्यागः सत्यं कृतज्ञता ।
श्रुतं शीलं दमश्चेति गुणाः सम्पत्तिहेतवः ॥ २२ ॥

प्रभाव, पवित्रता, मित्रता, त्याग, सत्यबोलना, दूसरेका उपकार मानकर उसको स्मरण रखना. शास्त्र तथा शीलसम्पन्न होना और बाहर भीतरकी इन्द्रियोंका जय करना यह गुण सम्पत्तिके कारणहैं ॥ २२ ॥

आत्मानं प्रथम राजा विनयेनोपपादयेत् ।
ततोऽमात्यांस्ततोभृत्यांस्ततः पुत्रांस्ततः प्रजाः॥२३॥

राजाको उचितहै कि, प्रथम अपनेको विनयसम्पन्न करै फिर मन्त्री, फिर भृत्य और फिर पुत्र और तत्पश्चात् प्रजाको सपन्न करै ॥ २३ ॥

सदानुरक्तप्रकृतिः प्रजापालनतत्परः ।
विनीतात्मा हि नृपतिर्भूयसीं श्रियमश्नुते ॥ २४ ॥

सदा प्रजामे अनुरक्त, प्रजापालनमे तत्पर विनीतआत्मा राजा महालक्ष्मीको प्राप्तहोताहै ॥ २४ ॥

प्रकीर्णविषयारण्ये धावन्तं विप्रमाथिनम् ।
ज्ञानाकुशेन कुर्व्वीत वश्यमिन्द्रियदन्तिनम् ॥ २५ ॥

बडे जटिल विषयरूपी वनमे दौडते हुए मनको मथनेवाले इन्द्रियरूप हाथीको ज्ञानरूपी अकुशसे वशीभूत करै ॥ २५ ॥

आत्मा प्रयत्नेनार्थभ्यो मनः समधितिष्ठति ।
संयोगादात्ममनसोः प्रवृत्तिरुपजायते ॥ २६ ॥

अपने प्रयत्नसेही मन अर्थोसे रहित होकर अचल होताहै, आत्मा और मनके सयोगसेही कार्यकी प्रवृत्ति प्रगट होतीहै ॥ २६ ॥

विषयामिषलोभेन मनः प्रेरयतीन्द्रियम् ।
तन्निरुन्ध्यात्प्रयत्नेन जिते तस्मिन् जितेन्द्रियः॥२७॥

विषयरूपी आमिषके लोभसे मन इन्द्रियोको प्रेरणा करताहै इससे यत्नसे मनको जय करनाचाहिये मनके जीतनेसे इन्द्रिये जीतलीजातीहै ॥२७॥

विज्ञान हृदयं चित्तं मनो बुद्धिश्च तत्समम् ।
अनेनात्मा करोतीह प्रवर्त्तननिवर्त्तने ॥ २८ ॥

विज्ञान, हृदय, चित्त, मन, बुद्धि, इनके साथही आत्मा निवृत्तिमार्गमें प्रवृत्ति करताहै ॥ २८ ॥

धर्माधर्मौ सुख दुःखमिच्छाद्वेषौ तथैव च ।
प्रयत्नज्ञानसंस्कारा आत्मलिङ्गमुदाहृतम् ॥ २९ ॥

धर्म, अधर्म, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, ज्ञान, संस्कार, यह आत्मा का लिङ्ग कहागयाहै अर्थात् जहां यह हो वहां आत्माकी स्थिति जानी जातीहै ॥ २९ ॥

ज्ञानस्यायुगपद्भावोमनसो लिङ्गमुच्यते ।
नानार्थेषु च संकल्पः कर्म चास्य प्रकीर्त्तितम् ॥ ३० ॥

एकसाथ दो वस्तुओंके ज्ञानका उदय न होना मनका लिंगहै, अनेक अर्थोंमें संकल्प करना इसका कर्महै ॥ ३० ॥

श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चेति पञ्चमी ।
पायूपस्थे हस्तपादौ वागितीन्द्रियसंग्रहः ॥ ३१ ॥

श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, पांचवीं, नासिका, गुदा, उपस्थ, हाथ, चरण और वाणी यह इन्द्रियसमुदायहै ॥ ३१ ॥

शब्दःस्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
उत्सर्गानन्दनादानगत्यालापाश्च तत्क्रियाः ॥ ३२ ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, पांचवाँ गंध, मलत्याग, आनन्द, ग्रहण गति, और आलाप (बातचीत्त) यह क्रमसे इन इन्द्रियोंकी क्रियाहै ॥ ३२ ॥

आत्मा मनश्च तद्विद्यैरन्तःकरणमुच्यते ।
आभ्यां तु सप्रयत्नाभ्यां संकल्प उपजायते ॥ ३३ ॥

आत्मा और मनके संयोगका नाम अन्तःकरण है इन्हींके प्रयत्नसे संकल्प उत्पन्न होताहै ॥ ३३ ॥

आत्मा बुद्धीन्द्रियाण्यर्था बहिष्करणमुच्यते ।
संकल्पाऽध्यवसायाभ्यां सिद्धिरस्य प्रकीर्त्तिता ॥ ३४ ॥

आत्माका बुद्धि इन्द्रिय और अर्थोंसे सयोग बहिष्करण कहाताहै सङ्कल्प और उत्साहसे इसकी सिद्धि कहीगईहै ॥ ३४ ॥

उभे एते हि करणे यत्नानन्तर्य्यके स्मृते ।
तस्मात्प्रवृत्तिसंरोधाद्भावयेन्निर्मनस्कताम् ॥ ३५ ॥

यह दोनोंही साधन आन्तारिक यत्नवालेह इससे इनकी प्रवृत्ति रोककर मनकी निश्चलताकी भावना करै ॥ ३५ ॥

एवं करणसामर्थ्यात्संयम्यात्मान मात्मनः ।
नयापनयविद्राजा कुर्व्वीत हितमात्मनः ॥ ३६ ॥

इसप्रकार साधनकी सामर्थ्यसे आत्मासेही आत्माको निरोध करें नीति और अनीतिका जाननेवाला राजा अपना हितसाधन करै ॥ ३६ ॥

एकस्यैव हि योऽशक्तो मनसः सन्निवर्हणे ।
मही सागरपर्य्यन्तां स कथं ह्यवजेष्यति ॥ ३७ ॥

जो एक अपने मनके जीतनेमही समर्थ नहींहै वह समुद्रपर्यन्त पृथिवीको किसप्रकार जीतसकताहै ॥ ३७ ॥

क्रियावसानविरसैर्विषयैरपहारिभिः ।
गच्छत्याक्षिप्तहृदयः करीव नृपतिर्ग्रहम् ॥ ३८ ॥

कार्यके पीछे विरस होनेवाले, मनको हरनेवाले विषयोंसे हृदयमे ताडन किया हुआ राजा हाथीके समान पकड लियाजाताहै ॥ ३८ ॥

सज्जमानो ह्यकार्य्येषु विषयान्धीकृतेक्षणः ।
आवहत्युग्रभयदां स्वयमेवापदं नृपः ॥ ३९ ॥

अकार्योंमें निरन्तर लगाहुआ विषयोंसे अन्धाहुआ राजा स्वयंही महाभय देनेवाली उग्र विपात्तिको प्राप्तहोताहै ॥ ३९ ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
एकैकमलमेतेषां विनाशप्रतिपत्तये ॥ ४० ॥

शब्द,स्पर्श,रूप,रस और पाँचवीं गन्ध इन एक २ की भी अधिक आसक्ति राजाके विनाश करनेमें समर्थ है ॥ ४० ॥

शुचिशष्पांकुराहारो विदूरक्रमणक्षमः ।
लुब्धकाद्गीतलोभेन मृगो मृगयते वधम् ॥ ४१ ॥

पवित्र दूर्वा अंकुरका भोजन करनेवाला, दूरभागनेमें समर्थ लुब्धके गीतसे लुभायाहुआ मृगभी आप अपने वधमें कारण होजाता है ॥४१॥

गिरीन्द्रशिखराकारो लीलयोन्मूलितद्रुमः ।
करिणीस्पर्शसम्मोहादालानं याति वारणः ॥ ४२ ॥

देखो पर्वतके शिखरकी समान आकारवाला लीलासेही वृक्षोंका उखाड़नेवाला हाथी हाथिनीके स्पर्शके लोभसे बंधनको प्राप्त होताहै ॥ ४२ ॥

स्निग्धदीपशिखालोकविलोभितविलोचनः ।
मृत्युमृच्छत्यसन्देहात् पतङ्गः सहसा पतन् ॥ ४३ ॥

स्निग्धदीपककी शिखाके दर्शनसे जिसके नेत्र लुभागयेहैं सो सहसा गिरकर उसपर पतंग अपना प्राण देदेताहै यह एकरूपका विषयहै इसमें सन्देह नहीं ॥ ४३ ॥

दूरेऽपि हि भवन् दृष्टेरगाधसलिले चरन् ।
मीनस्तु सामिषं लोहमास्वादयति मृत्यवे ॥ ४४ ॥

जिसके निवासका स्थान दृष्टिसे दूरहै जो अगाधजलमें रहताहै ऐसा मीन अपनी मृत्युके लियेही आमिषसहित लोहको भक्षण करताहै ॥ ४४ ॥

गन्धलुब्धो मधुकरो दानासवपिपासया ।
अभ्येत्य सुखसञ्चारां गजकर्णझनञ्झनाम् ॥ ४५ ॥

गन्धके कारण लोभको प्राप्तहुआ दानमदरूपी आसवके पीनेकी इच्छा करनेवाला भ्रमर सुखसञ्चारिणी झनझन ध्वनि हाथीके कानके समीप 'मरणके लियेही' आकर करताहै ॥ ४५ ॥

एकैकशो विनिघ्नन्ति विषया विषसन्निभाः ।
क्षेमी नु स कथं वा स्याद् यः समं पञ्च सेवते ॥ ४६ ॥

यह विषकी समान विषय एक एकही मारतेहैं फिर जो इन पांचो विषयोंको सेवन करताहै वह किसप्रकार कुशल रहसकताहै ॥ ४६ ॥

सेवेत विषयान् काले मुक्त्वा तत्परतां वशी ।
सुखं हि फलमर्थस्य तन्निरोधे वृथा श्रियः ॥ ४७ ॥

समयपर विषयोंका सेवन करे, पर जितेन्द्रिय पुरुषको इसकी तत्परता तथा आसक्ति नही चाहिये, अर्थका फल सुखहै यदि यह न मिले तो लक्ष्मी व्यर्थ है ॥ ४७ ॥

निकामं सक्तमनसां कान्तामुखविलोकने ।
गलन्ति गलिताश्रूणां यौवनेन सह श्रियः ॥ ४८ ॥

जिनके मन स्त्रीके देखनेमें अत्यन्त लगेहुयेहै उनकी लक्ष्मी और यौवन आँसुओंके साथ नष्टहोतेहैं ॥ ४८ ॥

धर्मादर्थोऽर्थतः कामः कामात् सुखफलोदयः ।
आत्मानं हन्तितान् हत्वा युक्त्या यो न निषेवते ॥ ४९ ॥

धर्मसे अर्थ, अर्थसे काम और कामसे सुखफलका उदय होताहै जो युक्तिसे इनको सेवन नही करता वह इनको नाशकर अपनेको भी नष्टकरताहै ॥ ४९ ॥

नामापि स्त्रीति सह्लादि विकरोत्येव मानसम् ।
किंपुनर्दर्शनन्तस्या विलासोल्लासितभ्रुवः ॥ ५० ॥

स्त्रीहै, ऐसा मोहकारक शब्द मनमें तत्काल विकार करताहै फिर उस वामलोचना बाँकी भौंहवालीके दर्शनकी तौ कौन कहै ॥ ५० ॥

रहःप्रचारकुशला मृदुगद्गदभाषिणी ।
कंन नारी रमयति रक्तं रक्तान्तलोचना ॥ ५१ ॥

एकान्तप्रचारमें कुशल कोमल और गद्गदकंठसे भाषण करनेवाली कोयोंमें लालिमावाली वामलोचना नारी किस अनुरक्त पुरुषको नहीं रमातीहै?५१॥

मुनेरपि मनोऽवश्यं सरागं कुरुतेऽङ्गना ।
प्रसन्नं कान्तिजननं सन्ध्येव शशिमण्डलम् ॥ ५२ ॥

वह स्त्री मुनिके मनकोभी रागी और वशीभूत करलेतीहै इसका प्रसन्न निर्मल कान्तिजनन संध्याकालीन चन्द्रमण्डलके समान मुखहै ॥ ५२ ॥

मनः प्रह्लादयन्तीभिर्मदयन्तीभिरप्यलम् ।
महान्तोऽपि हि भिद्यन्ते स्त्रीभिरद्भिरिवाचलाः ॥ ५३ ॥

मनको आनन्द देनेवाली मदकरानेवाली स्त्रियोंसे बडे विद्वान्भी विदीर्ण होजातेहैं जैसे जलवर्षणसे पर्वत ॥ ५३ ॥

मृगयाऽक्षास्तथा पानं गर्हितानि महीभुजाम् ।
दृष्टास्तेभ्यस्तु विपदः पाण्डुनैषधवृष्णिषु ॥ ५४ ॥

राजोंको मृगया खेलना, पाशा खेलना, मदपान करना यह गर्हितहैं इन्हीके द्वारा पाण्डवों की नलकी और यदुवंशियोंकी विपत्ति देखीहै ॥५४॥

१–देखो राजा युधिष्ठिर जिस समय दुर्योधनसे जुआ खेलने लगे उस समय सर्वस्व हारकर पीछे द्रौपदीकोभी हारगये और तेरह वर्षतक वनमें रहना पड़ा और पीछेसे इसीके निमित्त महाभारत होकर भारतवर्ष रसातलको पहुँचा ।

२–राजा नल बड़ा प्रतापी राजा था, पर द्यूतके कारण सर्वस्व हरजाने एक जाडाकपडा पहरे घरसे बाहर निकला और अन्तमें अपनी स्त्रीको भी छोड़ बन बन भटकता फिरा, और सारथीके वेशमें राजा ऋतुपर्णके यहां कितनेही वर्ष बिताये, और फिर १२ वर्षमें पुष्करके पास लौटकर राजा ऋतुपर्णसे सीखी विद्याके कारण अपना राज्य पाया ।

कामः क्रोधस्तथा लोभो हर्षो मानो मदस्तथा ।
षड्वर्गमुत्सृजेदेनमस्मिन्त्यक्ते सुखी नृपः ॥ ५५ ॥

काम, क्रोध, लोभ, हर्ष, मान, मद, यह छः वर्ग राजाको सदा त्याग चाहिये इनके त्यागनेसे राजा सुखी होताहै ॥ ५५ ॥

दण्डको नृपतिः कामात्क्रोधाच्च जनमेजयः ।
लोभादैलस्तु राजर्षिर्वातापिर्दर्पतोऽसुरः ॥ ५६ ॥

राजा दण्डक कामके वशीभूत हो शुक्रकी कन्याके पकडनेमात्रसे नष्ट हुआ, ब्राह्मणोपर क्रोधकर उनके शापसे राजा जन्मेजय रोगीहुआ, राजर्षि राजा ऐल लोभसे, वातापी असुर अपने अभिमानसे अगस्त्यद्वारा नष्टहुआ ५६

पौलस्त्यो राक्षसो मानान्मदाद्दम्भोद्भवो नृपः ।
प्रयाता निधनंह्येते शत्रुषड्वर्गमाश्रिताः ॥ ५७ ॥

पुलस्त्यका बेटा राक्षस रावण मानसे, दम्भोद्भव राजा मदसे नष्टहुआ अर्थात् यह महीपाल षड्वर्गरूप शत्रुके अधीन हो नष्ट होगये ॥ ५७ ॥

---

१ राजा दण्डकने एकान्तमें शुक्राचार्यकी कन्याको देखकर उससे मैथुनके लिये कहा उसके न माननेपर जब राजा बलसे पकडनेलगा, तब वह छुडाय पिताके पास गई और समाचार सुनाया शुक्रने क्रोधकर यह शाप दिया कि सात दिनमें अग्निवर्षणसे यह सब देश नष्ट होजायगा, यह कह आप ऋषियों सहित वहासे चलेगये और वह देश नष्ट होकर दण्डकवन होगया ।

२–जन्मेजयके अश्वमेधमें ब्राह्मणकुमार हँसपडेथे,, राजाने उनका अनुचित हँसना देख उनको ताडकर भर्त्सनाकी, इससे क्रोधकर ब्राह्मणोंने राजाको शाप दिया कि तू रोगी होगा ।

३–वातापी असुर ब्राह्मणका रूप बनाय ऋषियोंको निमन्त्रित कर लाता, और अपने भ्राता आतापीको बकरा बनाय उसका मांस उनको परोसता, जब वे खाचुकते तब पुकारता भाई निकलो, वो ब्राह्मणोंका पेट फाड निकल आता, ऐसे अनेक ब्राह्मण मारे पीछे अभिमानसे अगस्त्यजीको निमन्त्रण दिया, वे इसकी चेष्टाको जान इसके भ्राताको भोजनमें पचागये, और जब यह असुर अगस्त्यके मारनेको दौडा तब अगस्त्यजीने इसकाभी संहार किया ।

शत्रुषड्वर्गमुत्सृज्य जामदग्न्यो जितेन्द्रियः ।
अम्बरीषो महाभागो बुभुजाते चिरं महीम् ॥ ५८ ॥

इन छहों शत्रुओंको जीतकर परशुराम जितेन्द्रियहैं, इसी जयसे महा- अम्बरीषने बहुत कालतक भूमिको भोगाहै ॥ ५८ ॥

शास्त्राय गुरुसंयोगः शास्त्रं विनयवृद्धये ।
विद्याविनीतो नृपतिर्न कृच्छ्रेष्ववसीदति ॥ ५९ ॥

शास्त्रज्ञानके निमित्त गुरुसंयोग, विनयवृद्धिकेलिये शास्त्रअभ्यास करै, विद्यासे विनीत राजा संकटमेंभी दुःखी नहीं होताहै ॥ ५९ ॥

वृद्धोपसेवी नृपतिः सतां भवति सम्मतः ।
प्रेर्य्यमाणोऽप्यसद्वृत्तैर्नाकार्य्येषु प्रवर्त्तते ॥ ६० ॥

वृद्धोंकी सेवाकरनेवाला राजा संकट पडनेपरभी दुःखी नहीं होता और असत् वृत्तिमें प्रेरितहुआ भी कार्यमें प्रवृत्त नहीं होताहै ॥ ६० ॥

आददानः प्रतिदिनं कलाः सम्यङ् महीपतिः ।
शुक्लपक्षे प्रतिचरन् शशांक इव वर्द्धते ॥ ६१ ॥

राजा प्रतिदिन भलीप्रकार कलाओंको धारण करताहुआ शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी समान वृद्धिको प्राप्तहोताहै ॥ ६१ ॥

जितेन्द्रियस्य नृपतेर्नीतिमार्गानुसारिणः ।
भवन्ति ज्वलिता लक्ष्म्यः कीर्त्तयश्च नभःस्पृशः ॥ ६२ ॥

---

१ राजा अम्बरीषपर एकादशीके व्रतमें पारण करलेनेपर दुर्वासाजीने क्रोधकर एक राक्षसीको प्रगट कर कहा कि, हमको निमन्त्रण देकर विना भोजन कराये तुमने कैसे जलसे पारण किया? राजाने कहा भगवन्! द्वादशी बीती जातीथी ब्राह्मणोंकी व्यवस्थासे जलमात्र ग्रहण किया है तथापि दुर्वासाने राजाके ऊपर राक्षसीकी प्रेरणा की, भगवान्ने सुदर्शन चक्रको भेजकर राजाकी रक्षाकरनेको कहा, सुदर्शन चक्र राक्षसीको संहारकर दुर्वासाके पीछे हुआ, एक वर्षतक ऋषिराज घूमे किसीने उनकी रक्षा न की और राजा वैसेही हाथ बाँधे खडा रहा, अन्तमें जब दुर्वासा राजापर आये तब राजाने सुदर्शन चक्रकी प्रार्थना कर ऋषिराजको बचाया और उनपर क्रोध न किया ।

नीतिमार्गका अनुसरण करनेवाले जितेन्द्रिय राजाकी लक्ष्मी प्रकाशि होती और आकाशको स्पर्शकरनेवाली कीर्ति होती हैं ॥ ६२ ॥

इतिस्म राजा विनयी नयान्वितो निषेवमाणो नरदेवसेवितम्
पदंसमाक्रामतिभास्वरंश्रियःशिरोमहारत्नगिरेरिवोन्नतम् ६३

इसप्रकारसे राजा विनीत नययुक्त उत्तम नरेन्द्रोंसे सेवितहुआ प्रकाशित लक्ष्मीके पदको प्राप्तहोताहै और महारत्नरूपी पर्वतके शिरोभागमें अवस्थान करताहै ॥ ६३ ॥

इयं हि लोकव्यतिरेकवर्तिनी स्वभावतः पार्थिवता समुन्नता
वलात्तदेनांविनयेनियोजयेत्रयस्यासिद्धौ विनयःपुरःसरः॥६४

यही अन्वयव्यतिरेकसे वर्तनेवाली स्वभावमें पार्थिवता कहीहै इस बलसे विनयमें नियुक्त करै नीतिकी सिद्धिमें विनय अग्र है ॥ ६४ ॥

परां विनीतः समुपैति सेव्यतां महीपतीनां विनयो विभूषणम्
प्रवृत्तदानो मृदुसङ्गरत्करःकरीव भद्रो विनयेन शोभते॥६५

विनीतपुरुष परमसेव्यताको प्राप्तहोताहै, राजोंका विनयही भूषण प्रवृत्तदानवाला अर्थात् दानशील मृदुता करलेनेवाला भद्र हाथीके समान विनयसे राजा शोभित होताहै ॥ ६५ ॥

गुरुस्तुविद्याधिगमायसेव्यते श्रुतां च विद्यामतयेमहात्मनाम्
श्रुतानुबन्धीनिमतांतिवेधसामसंशयंसाधुभवन्तिभूतये ॥६६

विद्याप्राप्तिके निमित्त गुरुकी सेवा कीजातीहै और विद्याकी प्र महात्माओंकी मतिके निमित्त होतीहै, विधानकर्ताओंकी शास्त्रसम्बन्धी मति होनाहै और वही कल्याणके निमित्त निःसन्देह साधु होतेहैं॥ ६६

सुनिपुणमुपसेव्य सद्गुरुं शुचिरनुवृत्तिपरो विभूतये ।
भवतिहिविनयोपबृंहितो नृपतिपदाय शमायचक्षमः॥६७।

अच्छ निपुण सद्गुरुकी सेवा करके और जो पवित्र चरित्र करतं

ह ऐश्वर्यका प्राप्त होताहै विनयसे वृद्धिको प्राप्तहुआ राजा राजपद और शान्तिके लिये समर्थ होताहै ॥ ६७ ॥

अविनयरतमादराद्दते वशमवशाश्च नयन्ति विद्विषः ।
श्रुतविनयविधिंसमाश्रितस्तनुरपिनैतिपराभवंक्वचित् ॥६८॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे इन्द्रियविजयविद्या
वृद्धसंयोगो नाम प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

जो अविनयमें रत तथा अवशहै तौभी उनको शत्रु तिरस्कार कर वशमें करलेतेहैं और जो शास्त्र तथा विनयकी विधिको आश्रय किये हैं उनका कहीं थोडाभी पराभव नहीं होताहै ॥ ६८ ॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे पण्डितज्वालाप्रसादमिश्रकृतभाषाटीकायां इन्द्रियविजयविद्यावृद्धसंयोगो नाम प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

द्वितीयः सर्गः २.

आन्वीक्षिकीं त्रयीं वार्त्तां दण्डनीतिञ्च पार्थिवः ।
तद्विद्यैस्तत्क्रियोपेतैश्चिन्तयेद्विनयान्वितः ॥ १ ॥

विनयसम्पन्न राजा आन्वीक्षिकी (तर्क) त्रयीविद्या वार्ता और दण्डनीति इनको जानकर और इनकी क्रियाकी चिन्ता करै ॥ १ ॥

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती ।
विद्याश्चतस्र एवैता योगक्षेमाय देहिनाम् ॥ २ ॥

आन्वीक्षिकी (तर्कशास्त्र) त्रयी (वेदत्रयकी विद्या) वार्ता और सनातनकी दण्डनीति यह चारों विद्या देहधारियोंके योगक्षेमके निमित्त होतीहैं॥२॥

त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिरिति विद्या हि मानवाः ।
त्रय्या एव विभागोऽयं सेयमान्वीक्षिकी मता ॥३॥

नीतिमार्गका अनुसरण करनेवाले जितेन्द्रिय राजाकी लक्ष्मी प्रकाशित होती और आकाशको स्पर्शकरनेवाली कीर्ति होती है ॥ ६२ ॥

इतिस्म राजा विनयी नयान्वितो निषेवमाणो नरदेवसेवितम् ।
पदंसमाक्रामतिभास्वरंश्रियःशिरोमहारत्नगिरेरिवोन्नतम् ६३॥

इसप्रकारसे राजा विनीत नययुक्त उत्तम नरेन्द्रोंसे सेवितहुआ प्रकाशित लक्ष्मीके पदको प्राप्तहोताहै और महारत्नरूपी पर्वतके शिरभागमें अवस्थान करताहै ॥ ६३ ॥

इयं हि लोकव्यतिरेकवर्तिनी स्वभावतः पार्थिवता समुन्नता ।
बलात्तदेनांविनयेनियोजयेन्नयस्यसिद्धौ विनयःपुरःसरः॥६४॥

यही अन्वयव्यतिरेकसे वर्तनवाली स्वभावसे पार्थिवता कहीहै इसको बलसे विनयमें नियुक्त करे नीतिकी सिद्धिमें विनय अग्र है ॥ ६४ ॥

परां विनीतः समुपैति सेव्यतां महीपतीनां विनयो विभूषणम् ।
प्रवृत्तदानो मृदुसञ्चरन्करःकरीव भद्रो विनयेन शोभते॥६५॥

विनीतपुरुष परमसेव्यताको प्राप्तहोताहै, राजोंका विनयही भूषणहै प्रवृत्तदानवाला अर्थात् दानशील मृदुता करनेवाला भद्र हाथीके समान विनयसे राजा शोभित होताहै ॥ ६५ ॥

गुरुस्तुविद्याधिगमायसेव्यते श्रुता च विद्यामतयेमहात्मनाम् ।
श्रुतानुवर्तीनिमतातिवेधसामसंशयंसाधुभवन्तिभूतये ॥६६॥

विद्याप्राप्तिके निमित्त गुरुकी सेवा कीजातीहै और विद्याकी प्राप्ति महात्माओंकी मतिके निमित्त होतीहै, विधानकर्ताओंकी शास्त्रसम्बन्धि मति होतीहै और वही कल्याणके निमित्त निःसन्देह साधु होतेहै॥ ६६ ॥

सुनिपुणमुपसेव्य सद्गुरुं शुचिरनुवृत्तिपरो विभूतये ।
भवतिहिविनयोपबृंहितो नृपतिपदाय शमायचक्षमः॥६७॥

वह ऐश्वर्यका प्राप्त होताहै विनयसे वृद्धिको प्राप्त हुआ राजा राजपद और शान्तिके लिये समर्थ होताहै ॥ ६७ ॥

अविनयरतमादराहते वशमवशञ्च नयन्ति विद्विषः ।
श्रुतविनयविधिंसमाश्रितस्तनुरपिनैतिपराभवंक्वचित् ॥ ६८ ॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे इन्द्रियविजयविद्या वृद्धसंयोगो नाम प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

जो अविनयमें रत तथा अवशहै तौभी उनको शत्रु तिस्कार कर वशमें करलेतेहैं और जो शास्त्र तथा विनयकी विधिको आश्रय किये हैं उनका कहीं थोडाभी पराभव नहीं होताहै ॥ ६८ ॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे पण्डितज्वालाप्रसादमिश्रकृतभाषाटीकायां इन्द्रियविजयविद्यावृद्धसंयोगो नाम प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

द्वितीयः सर्गः २.

आन्वीक्षिकीं त्रयीं वार्त्तां दण्डनीतिञ्च पार्थिवः ।
तद्विद्यैस्तात्क्रियोपेतैश्चिन्तयेद्विनयान्वितः ॥ १ ॥

विनयसम्पन्न राजा आन्वीक्षिकी (तर्क) त्रयीविद्या वार्ता और दण्डनीति इनको जानकर और इनकी क्रियाकी चिन्ता करै ॥ १ ॥

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती ।
विद्याश्चतस्र एवैता योगक्षेमाय देहिनाम् ॥ २ ॥

आन्वीक्षिकी (तर्कशास्त्र) त्रयी (वेदत्रयकी विद्या) वार्ता और सनातनकी दण्डनीति यह चारों विद्या देहधारियोंके योगक्षेमके निमित्त होतीहैं॥२॥

त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिरिति विद्या हि मानवाः ।
त्रय्या एव विभागोऽयं सेयमान्वीक्षिकी मता ॥ ३ ॥

त्रयी, वार्ता, दण्डनीति इस विद्याको मनुष्य भलीप्रकार धारण कर वर्ततेहै और त्रयीविद्याका एक विभागही आन्वीक्षिकी विद्या कहाती है ॥ ३ ॥

वार्त्ता च दण्डनीतिश्च द्वे विद्ये इत्यवस्थिते ।
लोकस्यार्थप्रधानत्वाच्छिष्याः सुरपुरोधसः ॥ ४ ॥

वार्ता और दण्डनीति यह जो दो विद्याहै यह लोकके प्रधान अर्थकी साधक बृहस्पतिके शिष्योंद्वारा प्रचार कीगई है ॥ ४ ॥

एकैव दण्डनीतिस्तु विद्येत्यौशनसी स्थितिः ।
तस्यान्तु सर्वविद्यानामारम्भाः समुदाहृताः ॥ ५ ॥

और यह दण्डनीति उशनस अर्थात शुक्राचार्यकी विद्याहै, इसमे सब-विद्याओंका आरंभ कहागयाहै ॥ ५ ॥

विद्याश्चतस्र एवैता इति नो गुरुदर्शनम् ।
पृथक्पृथक्प्रसिद्ध्यर्थं यासु लोको व्यवस्थितः ॥ ६ ॥

यही चार विद्या है, इसप्रकार हमको गुरुका उपदेशहै पृथक्पृथक् प्रसिद्धिके निमित्त जिनमे लोक प्रतिष्ठित होरहेहै ॥ ६ ॥

आन्वीक्षिक्यात्मविज्ञानं धर्माधर्मौ त्रयीस्थितौ ।
अर्थानर्थौ तु वार्त्तायां दण्डनीतौ नयानयौ ॥ ७ ॥

आन्वीक्षिकीमे आत्माका विज्ञान होताहै और त्रयीविद्यामे धर्म अधर्मकी व्यवस्थाहै वार्तामे अर्थ अनर्थका ज्ञान, दण्डनीतिमे नीति अनीति स्थितहै ७॥

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता सती विद्या प्रचक्ष्यते ।
सत्योऽपि हि न सत्यस्ता दण्डनीतिस्तु विभ्रमे ॥ ८ ॥

आन्वीक्षिकी त्रयी और वार्ता यह सती विद्या कहाती है सत्यही यदि दण्डनीतिका सम्यक् प्रभाव न हो तो यह सती विद्या असतीके समान होतीहै ॥ ८ ॥

दण्डनीतिर्यदा सम्यङ्नेतारमधितिष्ठति ।
तदा विद्याविदः शेषा विद्याः सम्यगुपासते ॥ ९ ॥

जब दण्डनीति भलीप्रकारसे नेतामें स्थितरहतीहै तब विद्याका जाननेवाला सम्पूर्ण शेषविद्याओंको प्राप्तहोताहै ॥ ९ ॥

वर्णाः सर्व्वाश्रमाश्चैव विद्यास्वासु प्रतिष्ठिताः ।
ईक्षणाद्रक्षणं तासां तद्धर्म्मस्यांशभाङ्नृपः ॥ १० ॥

चारों वर्ण और चारों आश्रम अपनी २ विद्याओंमें प्रतिष्ठितहैं उनकी ईक्षणा करना (देखना) ही दर्शनहै जो ऐसा करताहै वही राजा धर्मका अंशभागी होताहै ॥ १० ॥

आन्वीक्षिक्यात्मविद्या स्यादीक्षणात् सुखदुःखयोः ।
ईक्षमाणस्तया तत्त्वं हर्षशोकौ व्युदस्यति ॥ ११ ॥

सुख दुःखके दिखानेसे कि इस कर्मसे यह सुख यह दुःख होताहै आन्वीक्षिकीका नाम आत्मविद्याहै इसके द्वारा तत्त्व देखनेसे विचारवान् हर्षशोकसे रहित होजाताहै ॥ ११ ॥

ऋग्यजुःसामनामानस्त्रयो वेदास्त्रयी मता ।
उभौ लोकाववाप्नोति त्रय्यां तिष्ठन् यथाविधि ॥ १२ ॥

ऋग्यजुः साम इन तीन वेदोंके प्रतिपादित कर्मउपासनाआदि त्रयीविद्या कहातेहैं, इस त्रयीविद्यामें यथाविधि स्थित होनेसे दोनों लोकोंको प्राप्तहोताहै ॥ १२ ॥

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः ।
धर्म्मशास्त्रं पुराणञ्च त्रयीदं सर्वमुच्यते ॥ १३ ॥

चार वेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष यह छः अंग, मीमांसा, और न्यायविस्तार, धर्मशास्त्र और पुराण यह सब त्रयी विद्या कहीहै ॥ १३ ॥

पाशुपाल्यं कृषिः पण्यं वार्ता वार्त्तानुजीविनाम् ।
सम्पन्नो वार्त्तया साधुर्नवृत्तेर्भयमृच्छति ॥ १४ ॥

पशुपालन, कृषि (खेती) करना, बेचना, खरीदना, यह वार्ता है। इस वार्तासे जो अनुजीवन करता है वह वार्तासे सम्पन्नहुआ महात्मा कभी वृत्तिसे भयको प्राप्त नहीं होता ॥ १४ ॥

दमो दण्ड इति ख्यातस्तात्स्थ्याद्दण्डो महीपतिः ।
तस्य नीतिर्दण्डनीतिर्नयनान्नीतिरुच्यते ॥ १५ ॥

दम (संयम) काही वा दमन करनेहीका नाम दण्डहै वह दण्ड राजामें स्थितहै उसकी नीति दण्डनीतिहै नयन अर्थात् सम्यक् रीतिसे सुमार्गमें चलानेसे इसको नीति कहतेहैं ॥ १५ ॥

तयात्मानञ्च शेषाश्च विद्याः पायान्महीपतिः ।
विद्या लोकोपकारिण्यस्तत्पाता हि महीपतिः ॥ १६ ॥

इससे और दूसरी सम्पूर्ण विद्याओंसे राजा अपनी रक्षाकरे, यह लोककी उपकार करनेवाली विद्याहैं राजा इनका रक्षकहै ॥ १६ ॥

विद्याद्यदाभिनिपुणाश्चतुर्व्वर्गमुदारधीः ।
विद्यात्तदासां विद्यात्वं विदिर्ज्ञाने निरुच्यते ॥ १७ ॥

उदार बुद्धिवाला जब इनके द्वारा चतुर्वर्गको जानताहै, इसीसे इनको विद्यात्व कहते हैं विद्ज्ञाने अर्थात् इनके द्वारा ज्ञान होताहै इसीसे इनको विद्या कहतेहैं ॥ १७ ॥

इज्याध्ययनदानानि यथाशास्त्रं सनातनः ।
ब्राह्मणक्षत्रियविशां सामान्यो धर्म्म उच्यते ॥ १८ ॥

यज्ञ करना, वेदपाठ करना, दानदेना, यह ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्योंका शास्त्रविहित सनातन सामान्य धर्म है ॥ १८ ॥

याजनाध्यापने शुद्धे विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ।
वृत्तित्रयमिदं प्राहुर्मुनयो ज्येष्ठवर्णिनः ॥ १९ ॥

यज्ञ कराना वेदादि पढाना शुद्धतापूर्वक शुद्ध पुरुषसे प्रतिग्रहलेना यह मुनियोंने ब्राह्मणोंकी आजीविका वर्णन की है ॥ १९ ॥

शस्त्रेण जीवनं राज्ञो भूतानाञ्चाभिरक्षणम् ।
पाशुपाल्यं कृषिःपण्यं वैश्यस्याजीवनं स्मृतम् ॥ २० ॥

क्षत्रियको शस्त्रधारणद्वारा जीवन, प्राणियोंकी रक्षा करना यही वृत्ति निर्देशकीहै, पशुपालन कृषि और व्यापारसे वैश्यकी जीविका कहीहै ॥ २० ॥

शूद्रस्य धर्म्मः शुश्रूषा द्विजानामनुपूर्व्वशः ।
शुद्धा च वृत्तिस्तस्यैव कारुचारणकर्म्म च ॥ २१ ॥

और क्रमसे द्विजातियोंकी धर्मपूर्वक सेवा करनी शूद्रकी वृत्तिहै कारु [चित्रकारी] तथा चारण [कत्थक] कर्मसे आजीविका करनी उसकी शुद्धवृत्तिहै ॥ २१ ॥

गुरौ वासोऽग्निशुश्रूषा स्वाध्यायो व्रतधारणम् ।
त्रिकालस्नायिता भैक्ष्यं गुरौ प्राणान्तिकी स्थितिः ॥ २२ ॥

गुरुके यहां निवास, अग्निकी शुश्रूषा, सेवा, वेदादिपाठ, व्रतधारण, त्रिकालस्नान, भिक्षासे प्राणपर्यन्त गुरुके यहां निवास करै ॥ २२ ॥

तदभावे गुरुसुते तथा सब्रह्मचारिणि ।
कामतोवाऽऽश्रमान्यत्वं स धर्म्मो ब्रह्मचारिणः ॥ २३ ॥

अथवा गुरुजी नहीं तो गुरुके पुत्रके समीप निवास ब्रह्मचर्यका धारण करना फिर विद्या पूर्णकर इच्छासे अन्य आश्रममें जाना यह ब्रह्मचारियोंका धर्म है ॥ २३ ॥

स मेखली जटी दण्डी मुण्डी वा गुरुसंश्रयः ।
आविद्याग्रहणाद्गच्छेत्कामतोवाऽऽश्रमान्तरम् ॥ २४ ॥

वह ब्रह्मचारी मेखला धारण कियेरहै जटा रखायेरहै दण्ड धारण कियेरहै वा शिर मुँडायेरहै वा निरन्तर गुरुके यहाही निवास करता रहै विद्याके पूर्णहोनतक वहीं रहै पीछे इच्छा होनसे दूसरे आश्रममे जाय ॥२४॥

अग्निहोत्रोपचरणं जीवनञ्च स्वकर्मभिः ।
धर्मोयं गृहिणां काले पर्व्ववर्जं रतिक्रिया ॥ २५ ॥

अग्निहोत्र करना अपने कर्मसे जीवन करना पर्वको छोडकर समयमे रतिक्रिया यह गृहस्थियोका धर्म है ॥ २५ ॥

देवपित्रातिथीनाञ्च पूजादीनानुकम्पनम् ।
श्रुतिस्मृत्यर्थसंस्थानं धर्मोऽयं गृहमेधिनः ॥ २६ ॥

देवता पितर आतिथियोकी पूजा दीनोपर दया श्रुतिस्मृतियोके अनुसार चलना गृहस्थियोका धर्म है ॥ २६ ॥

जडत्वमग्निहोतृत्वं भूशय्याजिनधारणम् ।
वनवासः पयोमूलनीवारफलवृत्तिता ॥ २७ ॥

जडवत् रहना, नित्य अग्निहोत्र करना, भूमिमे शयन करना, वक्कल वा मृगचर्म धारण करना, वनमे निवास, दूध, मूल, नीवार, अन्न, फलभोजन ॥ २७ ॥

प्रतिग्रहनिवृत्तिश्च त्रिःस्नानं व्रतचारिता ॥
देवातिथीनां पूजा च धर्मोऽयं वनवासिनः ॥ २८ ॥

प्रतिग्रह न लेना त्रिकालस्नान व्रताचरण देवताअतिथियोकी पूजा, यह वनवासियोंका धर्महै ॥ २८ ॥

सर्व्वारम्भपरित्यागो भैक्ष्याश्यं वृक्षमूलता ।
निष्प्रतिग्रहताऽद्रोहः समता सर्व्वजन्तुषु ॥ २९ ॥

सम्पूर्ण उद्योगका त्याग भिक्षा भोजन वृक्षमूलमे शयन प्रतिग्रहका न लेना किसीसे द्रोह न करना सब प्राणियोमे समता ॥ २९ ॥

प्रियाप्रियपरिष्वङ्गः सुखदुःखाविकारिता ।
सबाह्याभ्यन्तरं शौचं वाङ्मनोव्रतचारिता ॥ ३० ॥

प्रियअप्रियमें एकसा ज्ञान होना सुख दुःखम हर्ष शोक न करना बाहर भीतरसे पवित्र होना वाणीमनसे व्रत आचरण करना ॥ ३० ॥

सर्व्वेन्द्रियसमाहारो धारणा ध्याननित्यता ।
भावसंशुद्धिरित्येष परिव्राड्धर्म्म उच्यते ॥ ३१ ॥

सम्पूर्ण इन्द्रियोंको जय करना धारणा और नित्य ध्यान करना और भावशुद्धिहोना यह संन्यासियोंका धर्म है ॥ ३१ ॥

अहिंसा सूनृता वाणी सत्यं शौचं दया क्षमा ।
वर्णिनां लिङ्गिनाञ्चैव सामान्यो धर्म्म उच्यते ॥ ३२ ॥

हिंसा न करनी, सत्य और मीठी बातें बोलना, सत्य पवित्रता दया क्षमा यह सब वर्ण और आश्रमोंका साधारण धर्महै ॥ ३२ ॥

स्वर्गानन्त्याय धर्मोऽयं सर्व्वेषां वर्णिलिङ्गिनाम् ।
तस्याभावे तु लोकोऽयं संकरान्नाशमाप्नुयात् ॥ ३३ ॥

यह धर्म वर्णाश्रमियोंको अनन्त कालतक स्वर्गके देनेवाले हैं इसके अभावमें यह लोक वर्णसङ्कर होकर नाशको प्राप्त होसकताहै ॥ ३३ ॥

सर्व्वस्यास्य यथान्यायं भूपतिः सम्प्रवर्त्तकः ।
तस्याभावे धर्म्मनाशस्तदभावे जगच्च्युतिः ॥ ३४ ॥

राजा इन सबकाही न्यायपूर्वक प्रवृत्तकरानेवालाहै इनके नहोनेसे धर्म-नाश और धर्मनाशसे जगत् नष्ट होजाताहै ॥ ३४ ॥

वर्णाश्रमाचारयुक्तो वर्णाश्रमविभागवित् ।
पाता वर्णाश्रमानाञ्च पार्थिवः सर्व्वलोकभाक् ॥ ३५ ॥

वर्णाश्रमके आचारसे युक्त वर्णाश्रमका विभाग जाननेवाला वर्णाश्रमका रक्षक राजा सब लोकका अधीश्वर होताहै ॥ ३५ ॥

इति यस्माद्गुभौ लोकौ धारयत्यात्मतो नृपः ।
प्रजानाञ्च ततः सम्यग् दण्डं दण्डीव धारयेत्॥ ३६॥

इसप्रकारसे आत्मवान राजा दोनो लोकोंको धारण करताहुआ और प्रजाओंका यथायोग्य शासन करताहुआ दण्डीकी समान दण्डधारण करताहुआ वर्ते ॥ ३६ ॥

उद्वेजयति तीक्ष्णेन मृदुना परिभूयते ।
दण्डेन नृपतिस्तस्माद्युक्तदण्डः प्रशस्यते ॥ ३७ ॥

तीक्ष्णदण्डसे प्रजा उद्वेजित (विरक्त) होजातीहै मृदुदण्डसे राजाहीका तिरस्कार होनेलगताहै, इसकारणसे राजा युक्तदण्डका विधानकरै ॥ ३७॥

त्रिवर्गं वर्द्धयत्याशु राज्ञो दण्डो यथाविधि ।
प्रणीतो वाऽसमञ्ज स्याद्वनस्थानपि कोपयेत् ॥ ३८॥

यथाविधिसे दण्डविधान करनेवाले राजाका त्रिवर्ग [धर्म, अर्थ, काम,] वृद्धिको प्राप्त होताहै और जो अयुक्त शासन करताहै तब देशके तो क्या वनके लोगोंकोभी कुपित करताहै ॥ ३८ ॥

लोकशास्त्रानुगो नेयो दण्डो नोद्वेजनः श्रिये ।
उद्वेजनादधर्म्मस्तु तस्माद्भ्रंशो महीपतेः ॥ ३९ ॥

लोकशास्त्रके अनुसार चलनेवाला नीतिमें तत्पर राजाका उचित दण्ड विरक्तताका कारण नहीं किन्तु लक्ष्मीका कारण होताहै प्रजाके उद्वेजनसे अधर्म होता और उससे राजा भ्रष्ट होजाताहै ॥ ३९ ॥

परस्परामिषतया जगतो भिन्नवर्त्मनः ।
दण्डाभावे परिध्वंसी मात्स्यो न्यायः प्रवर्तते ॥४०॥

और जो परस्पर मांसभक्षणकी अभिलाषासे भिन्नमार्गमें स्थित जगत्को दण्डके अभावसे नष्ट करताहै उसका नाम मात्स्यन्यायहै अर्थात् जैसे मच्छ

मच्छके मांसभक्षणकी अभिलाषा करतेहैं ऐसा राजा प्रजाका वर्ताव, नष्टता-केलिये होताहै ॥ ४० ॥

जगदेतन्निरालम्बं कामलोभादिभिर्बलात् ।
निमज्जमानं निरये राज्ञा दण्डेन धार्य्यते ॥ ४१ ॥

यह जगत काम और लोभकेद्वारा बलसे निरालम्ब नरकमें डूबताहै केवल दण्डसे राजाही इसको धारण करताहै ॥ ४१ ॥

इदं प्रकृत्या विषयैर्वशीकृतं परस्परं स्त्रीधनलोलुपं जगत् ।
सनातनेवर्त्मनिसाधुसेविते प्रतिष्ठते दण्डभयोपपीडितम् ॥४२॥

यह जगत् स्वभावसेही विषयोंके वशीभूतहै परस्पर स्त्री और धनमें लोभित होरहाहै, तब साधुसेवित सनातनमार्गमें दण्डके भयसे पीडित हुआही स्थित होताहै ॥ ४२ ॥

नियतविषयवर्त्ती प्रायशो दण्डयोगात्
जगति परवशेऽस्मिन् दुर्लभः साधुवृत्तः ।
कृशमथ विकलं वा व्याधितं वाऽधनं वा
पतिमिव कुलनारी दण्डनीत्याऽभ्युपैति ॥ ४३ ॥

निरन्तर विषयोंमें वर्तनेवाले इस परवश जगत्में साधुचारित्रवाला पुरुष दुर्लभहै दण्डयोगसेही स्थिति होतीहै । कृश, अंगहीन, व्याधित, निर्धन पतिको कुलनारी दण्डसेही प्राप्त होती है ऐसेही प्रजा दण्डभयसे नियमके वशीभूत रहतीहै ॥ ४३ ॥

इति परिगणितार्थः प्राप्तमार्गानुसारी
नियमयति यतात्मा यः प्रजां दण्डनीत्या ।
अपुनरपगमाय प्राप्तमार्गप्रचाराः
सरित इव समुद्रं सम्पदस्तं विशन्ति ॥ ४४ ॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे विद्याविभागो वर्णाश्रमव्यवस्था
दण्डमाहात्म्यञ्च द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

इसप्रकार जो राजा सब अर्थोंको भलीप्रकार जानताहै और सनातन मार्गका अवलम्बन करताहै और स्वयं आत्मसंयमी होकर प्रजाको दण्ड-नीतिसे नियममें रखताहै उसने मुक्तिके निमित्त अपना मार्ग खोललियाहै जैसे नदियें समुद्रमें प्रवेश करती है इसीप्रकार सब सम्पत्तियें उसमें प्रविष्ट होतीहैं ॥ ४४ ॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे विद्याविभागो वर्णाश्रमव्यवस्था
दण्डमाहात्म्यञ्च द्वितीय सर्ग ॥ २ ॥

तृतीयः सर्गः ३.

दण्डं दण्डीव भूतेषु धारयन् धरणीपतिः ।
प्रजाः समनुगृण्हीयात्प्रजापतिरिव स्वयम् ॥ १ ॥

भूमिपति दण्डीकी समान सब भूतोंमें दण्डधारण करताहुआ प्रजापतिकी समान स्वयं प्रजापर अनुग्रह करै ॥ १ ॥

वाक् सूनृता दया दानं दीनोपगतरक्षणम् ।
इति सङ्गः सतां साधु हितत् सत्पुरुषव्रतम् ॥ २ ॥

प्यारी सत्यवाणी, दया दान, दीनोंपर रक्षा सत्पुरुषोंकी संगति सच्चरित्र होना यह सत्पुरुषोंके व्रतहैं ॥ २ ॥

आविष्ट इव दुःखेन हृद्गतेन गरीयसा ।
समन्वितः करुणया परया दीनमुद्धरेत् ॥ ३ ॥

हृदयमें प्राप्तहुए बडे दुःखसे घिराहुआ जैसे बडी करुणासे युक्त होकर दीनोंका उद्धार करना चाहिये ॥ ३ ॥

न तेभ्योऽभ्यधिकाः सन्तः सन्ति सत्पुरुषव्रतैः।
दुःखपङ्कार्णवे मग्नं दीनमभ्युद्धरन्ति ये ॥ ४ ॥

जो सत्पुरुष अपने व्रतसे दुःखरूप दलदलके समुद्रमें डूबतेहुए दीनों-
ा उद्धार करतेहैं उनसे सन्तजन अधिक नहीं हैं ॥ ४ ॥

दयामास्थाय परमां धर्म्मादविचलन्नृपः।
पीडितानामनाथानां कुर्य्यादश्रुप्रमार्ज्जनम् ॥ ५ ॥

राजा अपने धर्मसे विचलित न होता हुआ परमदयामें स्थित होकर
ीड़ित अनाथजनोंका अश्रुमार्जन करे ॥ ५ ॥

आनृशंस्यं परो धर्म्मः सर्व्वप्राणभृतां यतः।
तस्माद्राजाऽऽनृशंस्येन पालयेत्कृपणं जनम् ॥ ६ ॥

जिसकारण कि, प्राणियोंपर क्रूरता नकरना यही सबका परम धर्म है,
इसकारण राजा दुःखीजनोंका मृदुतापूर्वक पालन करै ॥ ६ ॥

नहि स्वसुखमन्विच्छन् पीडयेत् कृपणं नृपः।
कृपणः पीड्यमानोहि मन्युना हन्ति पार्थिवम् ॥ ७ ॥

अपने सुखकी इच्छासे राजाको कृपणजनको पीडा न देनी चाहिये,
कारण कि वह पीडित हुआ दीन अपने क्रोधसे राजाको नष्ट करदेता है ॥ ७ ॥

कोहि नाम कुले जातः सुखलेशेन लोभितः।
अल्पसाराणि भूतानि पीडयेदविचारयन् ॥ ८ ॥

ऐसा कौन कुलजात श्रेष्ठ पुरुष होगा जो अपने थोड़ेसे सुखके लिये
अल्पबलवाले प्राणियोंको विनाविचारे पीड़ित करैगा ॥ ८ ॥

आधिव्याधिपरीताय अद्य श्वो वा विनाशिने।
कोहि नाम शरीराय धर्म्मापेतं समाचरेत् ॥ ९ ॥

आधिव्याधिसे युक्त आज वा कल नाश होनेवाले शरीरके निमित्त धर्मसे
रहित कार्य कौन करेगा ॥ ९ ॥

आहार्य्यैर्नीयमानं हि क्षणं दुःखेन हृयताम् ।
छायामात्रकमेवेदं पश्येदुदकबिन्दुवत् ॥ १० ॥

जो केवल आहारमात्रसेही चलताहै क्षणमात्रमें दुःखसे नष्ट होजाताहै, इस छायामात्र देहको जलके बिन्दुकी समान जानना चाहिये ॥ १० ॥

महावाताहतभ्रान्ति मेघमालातिपेलवैः ।
कथं नाम महात्मानो ह्रियन्ते विषयारिभिः ॥ ११ ॥

जब कि, मेघमाला अतिशीघ्रगामी महापवनसे इधर उधर घूमने लगती है, तब विषयरूपी शत्रुओंसे महात्मालोग किसप्रकार विचलित न होंगे ॥ ११ ॥

जलान्तश्चन्द्रचपलं जीवनं खलु देहिनाम् ।
तथाविधमिति ज्ञात्वा शश्वत्कल्याणमाचरेत् ॥ १२ ॥

जलके भीतर हिलते हुए चन्द्रबिम्बकी समान चचल निश्चयही देहधारियोंका जीवन है तब ऐसा जानकर निरन्तर कल्याणकारी कर्म करे ॥ १२ ॥

जगन्मृगतृषातुल्यं वीक्ष्येदं क्षणभङ्गुरम् ।
स्वजनैः संगतः कुर्य्याद्धर्म्माय च सुखाय च ॥ १३ ॥

इस जगत्को मृगतृष्णाकी समान क्षणभगुर जानकर अपने जनोंसे मिलकर धर्म और सुखके लिये कार्य करै ॥ १३ ॥

सेव्यमानस्तु स्वजनैर्महानति विराजते ।
सुधातल इव श्रीमान् प्रासादश्चन्द्ररश्मिभिः ॥ १४ ॥

अपने जनोंसे सेवित हुआ यह पुरुष महान् होताहै तथा विराजित होताहै, जिसप्रकार चन्द्रकिरणोंसे श्रीमान् अमृतमय राजमहल शोभित होता है ॥ १४ ॥

हिमांशुमाली न तथा न चोत्फुल्लोत्पलं सरः ।
आनन्दयति चेतांसि यथा सज्जनचेष्टितम् ॥ १५ ॥

न ऐसा चन्द्रमा न ऐसा कमलखिला सरोवर चित्तको प्रसन्न करताहै जैसे सज्जनपुरुषकी चेष्टा चित्त प्रसन्न करतीहै ॥ १५ ॥

ग्रीष्मसूर्य्यांशुसन्ततमुद्वेजनमनाश्रयम् ।
मरुस्थलमिवोदग्रं त्यजेद्दुर्जनसङ्गतम् ॥ १६ ॥

गरमीके सूर्यकी किरणोंसे सन्तप्त उद्वेजन करनेवाले आश्रयहीन उद्दण्ड रुस्थलकी समान दुर्जनकी संगतिको त्याग दे ॥ १६ ॥

सतः शीलोंघसम्पन्नानकस्मादेव दुर्ज्जनः ।
अन्तः प्रविश्य दहति शुष्कवृक्षानिवानलः ॥ १७ ॥

पर्वतकी समान अचल सत्पुरुषोंके भी अन्तःकरण दुर्जन अकस्मात् वेश करके सूखे वृक्षको अग्नि जैसे जला डालते हैं ॥ १७ ॥

निश्वासोद्गीर्णहुतभुग् धूमधूम्रीकृताननैः ।
वरमाशीविषैः सङ्गं कुर्य्यान्नत्वेव दुर्ज्जनैः ॥ १८ ॥

जिनके श्वास अग्निके समान निकलते हैं धूमसे धूम्रायमान मुखवाले र्पजनोंकी संगति करना अच्छा है पर दुर्जनोंकी संगति अच्छी नहीं॥१८॥

दीयते स्वच्छहृदयैः पिण्डो येनैव पाणिना ।
मार्ज्जार इव दुर्वृत्तस्तमेव हि विलुम्पति ॥ १९ ॥

स्वच्छहृदयवाले पुरुष जिस हाथसे पिण्डदेते हैं दुर्वृत्त होनेसे वही रुष मार्ज्जारकी समान लोप करदेता है ॥ १९ ॥

असाध्यं साधुमन्त्राणां तीव्रं वाग्विषमुत्सृजन् ।
द्विजिह्ववदनं धत्ते दुष्टो दुर्ज्जनपन्नगः ॥ २० ॥

तीक्ष्ण वाणीरूप विषको उगलताहुआ द्विजिह्वारूपी मुखवाला दुर्जनरूप र्प साधुमन्त्रोंसे भी असाध्य होता है ॥ २० ॥

क्रियतेऽभ्यर्हणीयाय स्वजनाय यथाञ्जलिः ।

ततः साधुतरः कार्य्यो दुर्जनाय हितार्थिना ॥२१॥

जैसे अपने जनके सत्कारके लिये अजलीकी जाती है इसीप्रकार हितकी इच्छा करनेवालेको इससे भी अधिक दुर्जनका सत्कार करना चाहिये॥२१॥

ह्लादिनी सर्व्वसत्त्वाना सम्यग्जनजिहीर्षया ।
भावयन् परमां मैत्री विसृजेल्लौकिकी गिरम् ॥२२॥

सवजीवोंको प्रसन्नकरनेवाली, सम्पूर्ण जनोंके चित्त हरनेवाली, परममैत्री की भावनावाली, लोकमोहिनी लोकसम्बन्धकी वाणी बोले ॥ २२ ॥

नित्यं मनोपहारिण्या वाचा प्रह्लादयेज्जगत् ।
उद्वेजयति भूतानि क्रूरवाग्धनदोऽपि सन ॥ २३ ॥

नित्य मनोहरवाणीसे जगत्को प्रसन्न करै चाहे कुबेर भी हो क्रूरवाणी सनको उद्वेजित करदेती है ॥ २३ ॥

हृदि विद्ध इवात्यर्थं यथा सन्तप्यते जनः ।
पीडितोऽपि हि मेधावी न तां वाचमुदीरयेत् ॥२४॥

क्रूरवाणीसे यह मनुष्य हृदयमें अधिकतर सन्तप्त होता है इससे पीडित होकरभी विद्वान् कठोरवाणी न बोले ॥ २४ ॥

तीव्राण्युद्वेगकारीणि विसृष्टान्यनयात्मकैः ।
कृन्तन्ति देहिना मर्म्म शस्त्राणीव वचासि च ॥२५॥

उद्वेग करनेवाले तीव्र वचन जब अन्यायी लोग उच्चारण करते हैं वह शस्त्रधारियोकी समान देहधारियोके मर्म छेदन करदेते है ॥ २५ ॥

प्रियमेवाभिधातव्यं नित्यं सत्सु द्विषत्सु च ।
शिखीव केकामधुरः प्रियवाक् कस्य न प्रियः ॥२६॥

इससे मित्र और वैरी सबसेही प्यारे वचन कहने चाहिये देखो मोरकी वाणी किसको प्यारी नहीं होती ॥ २६ ॥

अलङ्क्रियन्ते शिखिनः केकया मदरक्तया ।
वाचा विपश्चितोऽत्यर्थं माधुर्य्यगुणयुक्तया ॥ २७ ॥

मदसे अनुरक्त मयूरवाणीसे अलंकार कियेजाते हैं, इसी प्रकार मधुरता-युक्त वाणीसे बुद्धिमानोंकी शोभा होती है ॥ २७ ॥

मदरक्तस्य हंसस्य कोकिलस्य शिखण्डिनः ।
सरन्ति न तथा वाचो यथा साधुविपश्चिताम् ॥ २८ ॥

मदसे रक्त हंस, कोकिला, मोरकी भी ऐसी वाणी नहीं निकलतीं जैसी कि महात्मा बुद्धिमान् मनोहर वाणी बोलते हैं ॥ २८ ॥

गुणानुरागी स्थितिमान् श्रद्दधानो दयान्वितः ।
धनं धर्म्माय विसृजेत् प्रियां वाचमुदीरयेत् ॥ २९ ॥

गुणोंमें अनुरागी स्थितिवाला, श्रद्धायुक्त, दयासम्पन्न पुरुष प्यारी वाणी बोलताहुआ धर्मार्थ धनको दान करै ॥ २९ ॥

ये प्रियाणि प्रभाषन्ते प्रयच्छन्ति च सत्कृतिम् ।
श्रीमन्तोऽनिन्द्यचरिता देवास्ते नरविग्रहाः ॥ ३० ॥

जो प्रियवाणी बोलतेहैं और सत्कार करतेहैं वह श्रीमान् निन्दारहित चरित्रवाले मनुष्य शरीरधारी देवताहीहैं ॥ ३० ॥

शुचिरास्तिक्यपूतात्मा पूजयेद्देवताः सदा ।
देवतावद्गुरुजनमात्मवच्च सुहृज्जनम् ॥ ३१ ॥

शुचि, आस्तिक और पवित्र आत्मा होकर सदा देवपूजन करनाचाहिये गुरुजनोंके देवके समान और सुहृज्जनोंको आत्माकी समान मानै ॥ ३१ ॥

प्रणिपातेन हि गुरून् सतोऽनूचानचेष्टितैः ।
कुर्व्वीताभिमुखान् भूत्यै देवान् सुकृतकर्म्मणा ॥ ३२ ॥

गुरुजनोंको दण्डवत् करके सत्पुरुषोंको नम्रभावसे, देवताओंको पुण्यकर्मसे ऐश्वर्यके निमित्त अपने सन्मुख करै ॥ ३२ ॥

स्वभावेन हरेन्मित्रं सद्भावेन च बान्धवान् ।
स्त्रीभृत्यान् प्रेमदानाभ्यां दाक्षिण्येनेतरं जनम् ॥ ३३ ॥

स्वभावसे मित्रको, सद्भावसे बन्धुजनोंको, प्रेमदानसे स्त्री और भृत्योंको, चतुराईसे दूसरे जनोंको वशीभूत करै ॥ ३३ ॥

अनिन्दापरकृत्येषु स्वधर्म्मपरिपालनम् ।
कृपणेषु दयालुत्वं सर्व्वत्र मधुरा गिरः ॥ ३४ ॥

दूसरेके कार्य्योंकी निन्दा न करनी अपने धर्मका पालन करना, दीनोंपर दया, और सबसे मीठे वचन बोलना ॥ ३४ ॥

प्राणैरप्युपकारित्वं मित्रायाव्यभिचारिणे ।
गृहागते परिष्वङ्गः शक्त्या दानं सहिष्णुता ॥ ३५ ॥

प्राणपणसे भी कपटरहित मित्रका उपकार करना, घरमें आयेहुएसे मिलना, शक्ति अनुसार दान सहनशीलता ॥ ३५ ॥

बन्धुभिर्बन्धुसंयोगः स्वजने चरितानि च ।
तच्चित्तानुविधायित्वमिति वृत्तं महात्मनाम् ॥ ३६ ॥

बन्धुओंकेद्वारा बन्धुसंयोग, अपने जनोंमें सच्चरित्रता और उनके चित्त रंजनका विधान करना, यह महात्माओंका वर्ताव होताहै ॥ ३६ ॥

सनातने वर्त्मनि साधु तिष्ठतामयंहि पन्था गृहमेधिनां मतः ।
अनेन गच्छन्नियतंमहात्मनामिमञ्चलोकंपरमञ्चविन्दति ॥ ३७ ॥

गृहस्थियोंको सनातन मर्यादामें भलीभाँतिसे रहनाही सुमार्ग कहागया है जो महात्मा निरन्तर इस मार्गमें चलते हैं, वह इस लोक और परलोककोभी प्राप्त होते हैं ॥ ३७ ॥

तिपथि विनिवेशितात्मनो रिपुरपि गच्छति साधु मित्रताम् ।
ादवनिपतिमत्सराहते विनयगुणेन जगद्वशी भवेत् ॥ ३८ ॥

जो कोई अपनेको इस मार्गमें चलाता है उसके शत्रुभी मित्र होजाते
ं सो राजा यदि अभिमानी न हो तो उसके विनय और गुणोंसे जगत्
शीभूत होजाताहै ॥ ३८ ॥

क्व च नरपतिवर्गः संग्रहः क्व प्रजानां
मधुरवचनयोगाल्लोकमाह्लादयीत ।
मधुरवचनपाशैरानतो लालितः सन्
पदमपि हि न लोकः संस्थितेर्भेदमेति ॥ ३९ ॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे आचारव्यवस्थापनं
नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

कहां तो नरपतिवर्ग, कहां प्रजाओंका संग्रह परन्तु लोकोंके प्रसन्न करने-
ाले मधुरवचनके योगसे प्रजा वशमें आती है मधुरवचनके पाशोंसे नम्री
ूत और लालित हुई प्रजा मर्यादासे भिन्न एक पदभी तो चलनेको समर्थ
हीं होती ॥ ३९ ॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे भाषाटीकायामाचारव्यवस्थापनं
नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

चतुर्थः सर्गः ४.

स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रञ्च दुर्गं कोशो बलं सुहृत् ।
परस्परोपकारीदं सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥ १ ॥

स्वामी, मन्त्री, राज्य, किला, खजाना, सेना, मित्रवर्ग यह परस्पर
उपकारी होनेसे राज्यके सात अंग कहे हैं ॥ १ ॥

एकांगेनापि विकलमेतत्साधु न वर्त्तते ।
तस्य सामग्र्यमन्विच्छन् कुर्व्वीत सुपरीक्षणम् ॥२॥

एक अगके भी विकल होनेसे राज्यमे गडवड होती है, इसकारण राजाको परीक्षापूर्वक इनकी सम्पूर्णता रखनी उचित है ॥ २ ॥

आत्मानमेव प्रथममिच्छेद्गुणसमन्वितम् ।
कुर्वीत गुणसंयुक्तस्ततः शेषपरीक्षणम् ॥ ३ ॥

पहले तो अपनेको गुणसम्पन्न करना चाहिये आप गुणसम्पन्न होकर फिर दूसरेकी परिक्षा करे ॥ ३ ॥

साधु भूतलदेवत्व दुष्करश्चाकृतात्मभिः ।
आत्मसंस्कारसम्पन्नो राजा भवितुमर्हति ॥ ४ ॥

महात्मा, पृथ्वीका देवता स्वरूप, अकृतात्माओको दुष्कर आत्म सस्कारसम्पन्नही राजा होसकता है ॥ ४ ॥

लोकाधाराः श्रियो राज्ञां दुरापा दुष्परिग्रहाः ।
तिष्ठन्त्यप इवाधारे विशदात्मनि संस्कृते ॥ ५ ॥

शुद्ध आत्मावाले सस्कारसम्पन्न राजाकी लक्ष्मी दूसरेको न प्राप्त होने वाली, तथा बडे श्रमसे वशीभुत होनेवाली लोकोके आधारमे स्थित रहती है जैसे जल आधारमे स्थित रहते है ॥ ५ ॥

कुलं सत्त्वं वयः शीलं दाक्षिण्यं क्षिप्रकारिता ।
असंविवादिता सत्यं वृद्धसेवा कृतज्ञता ॥ ६ ॥

अच्छाकुल,वल,अवस्था, शील,चतुराई, कार्यको शीघ्र सम्पादन करना विवाद न करना, सत्य बोलना, वृद्धोकी सेवा करना कृतज्ञ होना ॥६॥

दैवसम्पन्नता बुद्धिरक्षुद्रपरिचारिता ।
शक्यसामन्तता चैव तथा च दृढभक्तिता ॥ ७ ॥

दैवी सम्पत्ति सम्पन्न होना, सत्व सम्पन्न बुद्धि, वृहत्पुरुषोंको सेवामें रखना, समर्थ सामन्तोंको समीप रखना, दृढ भक्ति होनी ॥ ७ ॥

दीर्घदर्शित्वमुत्साहः शुचिता स्थूललक्ष्यता ।
विनीतता धार्मिकता गुणाः साध्याभिगामिकाः ॥८॥

दीर्घदर्शी होना, उत्साह रखना, पवित्र रहना, स्थूलतासेही लक्ष्यको जानलेना, विनयसम्पन्न होना, धर्मात्मा होना साध्यवस्तुके सिद्धकरनेके गुण रखना ॥ ८ ॥

गुणैरेतैरुपेतः सन्सुव्यक्तमभिगम्यते ।
तथा च कुर्वीत यथा गच्छेल्लोकाभिगम्यताम् ॥ ९ ॥

इन गुणोंसे युक्तहुआ स्वामी प्रत्यक्षही जान लियाजाताहै राजा इसप्रकारके आचरण करै जिससे सब लोक इसको प्रिय जाने ॥ ९ ॥

प्रख्यातवंशमक्रूरं लोकसंग्राहिणं शुचिम् ।
कुर्वीतात्महिताकाङ्क्षी परिवारं महीपतिः ॥ १० ॥

विख्यातवंशवाले,क्रूरतारहित,लोकोंके संग्रहमें तत्पर,पवित्र ऐसे परिवारका संग्रह अपनी हितकी इच्छा करनेवाले राजाको करना चाहिये ॥१०॥

दुष्टोऽपि भोग्यतामेति परिवारगुणैर्नृपः ।
न क्रूरपरिवारस्तु व्यालाक्रान्त इव द्रुमः ॥ ११ ॥

दुष्टप्रकृतिवाला भी राजा परिवारके गुणोंसे भोग्यताको प्राप्त होताहै, पर क्रूरपरिवारवाला राजा सर्पोंसे व्याप्त वृक्षके समान भोग्यताको प्राप्त नहीं होता ॥ ११ ॥

निरुन्धानाः सतां मार्गं भक्षयन्ति महीपतिम् ।
दुष्टात्मानस्तु सचिवास्तस्मात्सुसचिवो भवेत् ॥१२॥

सत्पुरुषोंके मार्गको रोकनेवाले दुष्टात्मा मंत्री राजाको भक्षण करतेहैं इसकारण राजाको अच्छे मंत्रियोंका संग्रह करना चाहिये ॥ १२ ॥

विभूतीः प्राप्य परमाः सतां सम्भोग्यतां व्रजेत् ।
यासु सन्तो न तिष्ठन्ति ता वृथैव विभूतयः ॥ १३ ॥

परमऐश्वर्यको प्राप्तहोकर सत्पुरुषोंकोंही सम्भोगताको प्राप्तहोना चाहिये और जिनमे सत्पुरुषोंकी स्थिति न होवे वे ऐश्वर्य वृथाही है ॥ १३ ॥

असद्भिरसतामेव भुज्यन्ते धनसम्पदः ।
फलं किम्पाकवृक्षस्य ध्वाङ्क्षा भक्षन्ति नेतरे ॥ १४ ॥

असत्पुरुषोकी धनसम्पत्ति असत्पुरुषही भोगते है जैसे पाक (पके) वृक्षके फलको कागही भोजन करतेहै दूसरे नही ? ॥ १४ ॥

वाग्मी प्रगल्भः स्मृतिमानुदग्रो बलवान् वशी ।
नेता दण्डस्य निपुणः कृतशिल्पः सुविग्रहः ॥ १५ ॥

उदार, शास्त्रसम्मत बोलनेवाला, वाचाल, स्मृतिमान, बडा बलवान, जितेन्द्रिय, शिक्षक, दण्ड प्रयोग करता, चतुर, शिल्पविद्यामे निपुण, अच्छे शरीरवाला ॥ १५ ॥

पराभियोगप्रसहो दृष्टसर्वप्रतिक्रियः ।
परच्छिद्रानुपेक्षी च सन्धिविग्रहतत्ववित् ॥ १६ ॥

दूसरेके अभियोगको कठिनतासे सहनेवाला, सम्पूर्ण प्रतीकारोका जाननेवाला, पराये छिद्र जानकर उपेक्षा न करनेवाला, संधिविग्रहके तत्वका जाननेवाला ॥ १६ ॥

गूढमन्त्रप्रचारश्च देशकालविभागवित् ।
आदाता सम्यगर्थानां विनियोक्ता च पात्रवित् ॥ १७ ॥

गुप्तसम्मतिका प्रचारकरनेवाला, देशकालके विभागका जाननेवाला, धनाको सत्पात्रमे भलीप्रकार देनेवाला तथा सत्पात्रका ज्ञाता ॥ १७ ॥

क्रोधलोभभयद्रोह स्तम्भचापलवर्जितः ।

परोपतापपैशुन्यमात्सर्य्येर्ष्यानृतातिगः ॥ १८ ॥

क्रोध, लोभ, भय, वैर, स्तब्धता और चंचलतासे रहित; परायोंको दुःख देना, चुगली, अभिमान, ईर्षा और असत्यसे रहित ॥ १८ ॥

वृद्धोपदेशसम्पन्नः शक्तो मधुरदर्शनः ।
गुणानुरागी स्मितवागात्मसम्पत्प्रकीर्त्तिता ॥ १९ ॥

वृद्धपुरुषोंके उपदेश माननेवाला, समर्थ, मधुरदर्शी, गुणोंमें अनुरागी मधुरिमालिये बोलनेवाला यह सब आत्मसम्पत्ति कही हैं ॥ १९ ॥

इत्यादिगुणसम्पन्ने लोकयात्राविदि स्थिरे ।
निर्वृत्तः पितरीवास्ते यत्र लोकः स पार्थिवः ॥ २० ॥

जो इनको आदि लेकर और गुणोंसे सम्पन्न हैं, तथा लोकयात्राके जाननेवाले स्थिरचित्त निश्चिन्त बुरेकर्मोंसे रहित, जिस राजामें प्रजा पिताकी समान वर्ताव करतीहै वही यथार्थ राजाहै ॥ २० ॥

आत्मसम्पद्गुणैः सम्यक् संयुक्तं युक्तकारिणम् ।
महेन्द्रमिव राजानं प्राप्य लोकोऽभिवर्द्धते ॥ २१ ॥

जो आत्मसम्पत्तिके गुणोंसे भलीप्रकार युक्तहै युक्तिपूर्वक कार्यको करता है ऐसे महेन्द्रसमान राजाको प्राप्तहोकर प्रजा वृद्धिको प्राप्तहोतीहै ॥२१॥

शुश्रूषा श्रवणश्चैव ग्रहणं धारणं तथा ।
ऊहाऽपोहोऽर्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानञ्च धीगुणाः ॥ २२ ॥

शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, ऊहापोह (तर्कवितर्क) अर्थका विज्ञान और तत्त्वज्ञान यह बुद्धिके गुण हैं ॥ २२ ॥

दाक्ष्यं शैघ्र्यं तथामर्षः शौर्य्यश्चोत्साहलक्षणम् ।
गुणैरेतैरुपेतः सन् राजा भवितुमर्हति ॥ २३ ॥

चतुरता, शीघ्रकारिता, अमर्ष (असह्यता) शूरता यह उत्साहका लक्षण है, इन गुणोंसे युक्त हुआही राजा होसकताहै ॥ २३ ॥

त्यागः सत्यञ्च शौर्य्यञ्च त्रय एते महागुणाः ।
प्राप्नोति हि गुणान्सर्वानेतैर्युक्तो नराधिपः ॥ २४ ॥

त्याग (दान) सत्य बोलना और शूरता यह तीन महागुणहै, इन युक्तहुआ राजा सम्पूर्ण गुणोको प्राप्त होताहै ॥ २४ ॥

कुलीनाः शुचयः शूराः श्रुतवन्तोऽनुरागिणः ।
दण्डनीतिप्रयोक्तारः सचिवाः स्युर्महीपतेः ॥ २५ ॥

कुलीन, पवित्र, शूर, शास्त्रसम्पन्न, दण्डनीतिके यथायोग्य प्रयोग करने वाले राजाके मन्त्री होने चाहिये ॥ २५ ॥

उपधाः शोधिताः सम्यग्गाहमानाः फलोदयम् ।
तस्य सर्व परीक्षेरन्सानुरागाः कृताकृतम् ॥ २६ ॥

यह भलीप्रकार उपायोके जानेहुएहो वस्तुसामग्रीके शोधने जाननेवालेहो कौन वस्तु कहा स्थितहै, तथा फलके उदयको जाननेवाले अनुरागपूर्वक उस राजाके कर्म अकर्मकी मन्त्रीजन परीक्षा करते रहें ॥ २६ ॥

उपेत्य धीयते यस्मादुपधेति ततः स्मृता ।
उपाया उपधा ज्ञेयास्तयाऽमात्यान् परीक्षयेत् ॥ २७॥

समीप जाकर भलीप्रकार परीक्षा कीजातीहै, इससे उपधा कहातीहै उपायोंका नामही उपधाहै अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और भयसे परीक्षापूर्वक मन्त्री आदिके आशयको ढूँढना उपधा कहाती है । इन उपायोद्वारा अमात्योकी परीक्षा करै ॥ २७ ॥

स्वयग्रहो जानपदः कुलशीलबलान्वितः ।
वाग्मी प्रगल्भश्चक्षुष्मानुत्साही प्रतिपत्तिमान् ॥ २८ ॥

अच्छा ज्ञानी, अपने देशका, कुलशील और बलसे सम्पन्न, वाचाल, ,, दूरदर्शी, उत्साही, समयपर तत्काल उपायका ज्ञाता ॥ २८ ॥

स्तम्भचापलहीनश्च मैत्रः क्लेशसहः शुचिः ।
सत्यसत्त्वधृतिस्थैर्य्यप्रभावारोग्यसंयुतः ॥ २९ ॥

स्तब्धता और चपलतासे हीन मित्रताके गुणसम्पन्न क्लेशका सहनेवाला, पवित्र सत्यवादी बल धैर्य स्थिरता प्रभाव और आरोग्यसे संयुक्त ॥ २९ ॥

कृतशिल्पश्च दक्षश्च प्रज्ञावान् धारणान्वितः ।
दृढभक्तिरकर्त्ता च वैराणां सचिवो भवेत् ॥ ३० ॥

शिल्पविद्यामें चतुर दक्ष विचारबुद्धिसम्पन्न, मन्त्रादिधारणमें समर्थ, स्वामीमें दृढभक्तिकरनेवाला, तथा वैरोंका न करनेवाला ऐसा मंत्री होना चाहिये ॥ ३० ॥

स्मृतिस्तत्परतार्थेषु वितर्को ज्ञाननिश्चयः ।
दृढता मन्त्रगुप्तिश्च मन्त्रिसम्पत् प्रकीर्त्तिता ॥ ३१ ॥

स्मृति अर्थात् कर्तव्य कर्मोंका स्मरण रखना योग्यतासे धनादि उपार्जन करनेमें तत्पर तर्करहितता ज्ञानमें निश्चय दृढता और मंत्रका गुप्त रखना यह मन्त्रीकी सम्पद् कही है ॥ ३१ ॥

त्रय्याञ्च दण्डनीत्याञ्च कुशलोऽस्य पुरोहितः ।
अथर्वविहितं कर्म्म कुर्य्याच्छान्तिकपौष्टिकम् ॥ ३२ ॥

और इस राजाका पुरोहित त्रयीविद्या दण्डनीतिमें कुशल होनाचाहिये, व शान्तिक पौष्टिक कर्म अथर्ववेदके अनुसार करनेवाला होना चाहिये ॥ ३२ ॥

तादृक् सांवत्सरोप्यस्य ज्योतिःशास्त्रार्थचिन्तकः ।
प्रश्नाभिधानकुशलो होरागणिततत्त्ववित् ॥ ३३ ॥

इसीप्रकार तिथि आदिका यथायोग्य जाननेवाला प्रश्नकहनेमें चतुर, होरागणितके तत्त्वका जाननेवाला ज्योतिश्शास्त्रके अर्थका ज्ञाता, ज्योतिषी होना चाहिये ॥ ३३ ॥

साधुतेषाममात्यानां तद्विधेयस्तु बुद्धिमान् ।
चक्षुष्मतश्च शिल्पञ्च परीक्षेत गुणद्वयम् ॥ ३४ ॥

बुद्धिमान राजाको उचित है कि, इन अमात्यादिकी उन विधेयवस्तुओंसे दूरदर्शिता और शिल्पता इन दोनों गुणोंकी परीक्षा करे ॥ ३४ ॥

स्वजनेभ्यो विजानीयात् फलस्थानानवग्रहम् ।
परिकर्म्म स्वदाक्ष्यञ्च विज्ञानं धारयिष्णुताम् ॥ ३५ ॥

फलके स्थानों और अवग्रह (अवर्षण) की जॉच अपने जनोंसे करनी चाहिये तथा परिकर्म [अंगसंस्कार] अपनी चतुराई विज्ञान और धारणा इसको स्वजनोंसे जाने ॥ २५ ॥

गुणद्वयं परीक्षेत प्रागल्भ्यं प्रतिभान्तथा ।
कथायोगेन बुध्येत वाग्मित्वं सत्यवादिताम् ॥ ३६

प्रगल्भता और बुद्धिकी चमत्कारिता इन दोनों गुणोंकी परीक्षा करे बातचीतसे वाचालता और सत्यवादिता जान लीजाती है ॥ ३६ ॥

उत्साहञ्च प्रभावञ्च तथा क्लेशसहिष्णुताम् ।
धृतिञ्चैवानुरागञ्च स्थैर्य्यं वा यदि लक्षयेत् ॥ ३७ ॥

उत्साह प्रभाव क्लेशकी सहनशीलता धृति, अनुराग (प्रेम) स्थिरता यह जाननीहो तथा ॥ ३७ ॥

भक्तिं मैत्रीञ्च शौचञ्च जानीयाद्व्यवहारतः ।
संवासिभ्यो बलं सत्वमारोग्यं शीलमेव च ॥ ३८ ॥

भक्ति,मित्रता, पवित्रता यह व्यवहारसे जाननी चाहिये अपने समीप समान निवासियोंसे बल सत्व और आरोग्यता तथा शीलको जाने॥ ३८॥

अस्तब्धतामचापल्यं वैरिणां चापि कर्तृताम् ।
प्रत्यक्षतो विजानीयाद्भद्रतां क्षुद्रतामपि ॥ ३९ ॥

स्तब्ध (जड) न होना, चपलता न होना तथा वैरियोंका कर्तव्य, ष्ठता और नीचता यह बातें प्रत्यक्ष होनेसे जाननी चाहिये ॥ ३९॥

कर्मानुमेयाः सर्वत्र परोक्षगुणवृत्तयः ।
तस्मात्परोक्षवृत्तीनां फलैः कर्म विभावयेत् ॥ ४० ॥

और जितनी परोक्षगुणकी वृत्ति हैं वह सब उनके कर्मोंसे जाननी ाहिये, इससे परोक्ष वृत्ति (जो वस्तु सन्मुख नहीं) के फलोंको कर्म-ाराही जानै ॥ ४० ॥

सज्जमानमकार्येषु निरुन्धुर्मन्त्रिणो नृपम् ।
गुरूणामपि चैतेषां शृणुयाद्वचनं नृपः ॥ ४१ ॥

जिससमय राजा अकार्यमें प्रवृत्त हो तब मंत्रियोंको उसको निवारण ।रना चाहिये और राजाको उचितहै कि, गुरुजन और मंत्रीजन इनके चनोंको मानै ॥ ४१ ॥

नरेश्वरे जगत्सर्वं निमीलति निमीलति ।
सूर्योदये यथाऽम्भोजं तत्प्रबोधे प्रबुध्यते ॥ ४२ ॥

राजाके नष्ट होने वा अज्ञानी होनेसे सब जगत् नष्ट होता है, वा सो ।ाता है, और राजाके जागरूक होनेसे सूर्योदयमें कमलकी समान खिल ।ाता है ॥ ४२ ॥

तं बोधयेज्जगन्नाथं सबुध्येत यथा तथा ।
धीसत्वोद्योगसम्पन्नैस्तत्कर्म्मसु समाहितैः ॥ ४३ ॥

उस जगत्पति राजाको जैसे वने वैसे बुद्धि, सत्व,उद्योगसे सम्पन्न साव-ानीके कर्मोंसे जगावै ॥ ४३ ॥

नृपस्य ते हि सुहृदस्त एव गुरवो मताः ।
य एनमुत्पथगतं वारयन्त्यनिवारिताः ॥ ४४ ॥

राजाके जो सुहृद् है वेही उसके गुरु है जो इस राजाको कुमार्गमे चल तेही तत्काल रोकदेते है और आप उसके भयसे सदुपदेशसे निवृ नहीं होते ॥ ४४ ॥

सज्जमानमकार्येषु सुहृदो वारयन्ति ये ।
सत्यन्तेनैव सुहृदो गुरवो गुरवो हि ते ॥ ४५ ॥

जो सुहृद् अकार्यमे लगेहुए राजाको निवारण करतेहै, वेही सुहृद् स सुहृद् है, और गुरूके गुरु है ॥ ४५ ॥

कृतविद्योऽपि बलिना व्यक्तं रागेण रज्यते ।
रागानुरक्तचित्तस्तु किन्न कुर्य्यादसाम्प्रतम् ॥ ४६

विद्वान्भी बलिष्ठ प्रेमरागमे निश्चयही अनुरक्त होजाताहै, और प्रेम चित्त अनुरक्त होनेमे कौनसा अयोग्य कर्म नही किया जाता ? ॥ ४६

पश्यन्नपि भवत्यन्धः सम्राड्रागोवृतस्तु सन् ।
सुहृद्वैद्याश्चिकित्सन्ति निर्मलैर्विनयाञ्जनैः ॥ ४७ ॥

अनुरागी राजा देखता हुआभी अन्धाही रहता है तब सुहृद्रूपी वैद्य इसकी निर्मल विनयरूप अंजनसे चिकित्सा करते है ॥ ४७ ॥

रागमानमदान्धस्य स्खलतः शत्रुसंकटे ।
हस्तावलम्बो भवति सुहृत्सचिवचेष्टितम् ॥ ४८ ॥

राग और मान मदसे अंधेहुए शत्रुसंकटमे पडे राजाको सुहृद् मं की चेष्टाही हाथका सहारा होती है ॥ ४८ ॥

मदोद्धतस्य नृपतेः संकीर्णस्येव दन्तिनः ।
गच्छन्त्यन्यायवृत्तस्य नेतारः खलु वाच्यताम् ॥ ४९

मदमे उद्धत, अन्यायमे प्रवृत्त हुए राजाके मन्त्रीही दुर्नामताको प्र होतेहै, जिसप्रकार उद्धत मदान्ध कुमार्गमे चलने वाले हाथीके महावत निन्दा होतीहै ॥ ४९ ॥

भूगुणैर्वर्द्धते राष्ट्रं तद्वृद्धिर्नृपवृद्धये ।
तस्माद्गुणवतीं भूमिं भूत्यै भूपस्तु कारयेत् ॥ ५० ॥

पृथ्वीके गुणोंसे राज्य बढ़ताहै, और राज्यकी वृद्धिसे राजाकी वृद्धि होतीहै, इसकारण राजाको ऐश्वर्यवृद्धिकेनिमित्त पृथ्वीको गुणवतीकरनीचाहिये॥५०॥

शस्याकरवती पण्यखनिद्रव्यसमन्विता ।
गोहिता भूरिसलिला पुण्यैर्जनपदैर्वृता ॥ ५१ ॥

अन्न तथा व्यापारिक वस्तुओंकी खान तथा खोदकर निकलनेवाले हीरा पन्ना आदि द्रव्योंसे युक्त, गौओंकी हितकारिणी, बड़े जलवाली पवित्र देशोंसे सम्पन्न ॥ ५१ ॥

रम्या सकुञ्जरवना वारिस्थलपथान्विता ।
अदेवमातृका चेति शस्यते भूर्विभूतये ॥ ५२ ॥

मनोहर, हस्तियोंसे सम्पन्न वनवाली, जल और स्थलके मार्गसे सम्पन्न बिना मेघवर्षा भी अन्न उपजानेवाली अर्थात् कूप नहर आदिसे ही सींचनेसे अन्न प्रगट करनेवाली भूमि ऐश्वर्य वृद्धिके निमित्त होती है ॥ ५२ ॥

सशर्करा सपाषाणा साटवी नित्यतस्करा ।
रूक्षा सकण्टकवना सव्याला चेति भूरभूः ॥ ५३ ॥

कंकर पत्थरवाली, सर्वतः वनवाली,चोरोंसे नित्य सम्पन्न, रूखी कटीले वनोंवाली, सर्पोंकी अधिकाईवाली भूमि, ऐश्वर्यके निमित्त नहीं होती ॥५३॥

स्वाजीव्यो भूगुणैर्युक्तः सारूपः पर्वताश्रयः ।
शूद्रकारुवणिक्प्रायो महारम्भकृषीवलः ॥ ५४ ॥

अपने अधीन आजीविकावाला भूमिके गुणोंसे युक्त सारूप (समान रूपवाला)पर्वतके आश्रयवाला अर्थात जिसके समीप पर्वत हो, शूद्र शिल्पी चित्र आदि बनानेवालोंसे युक्त, वणिग्जनोंसे व्याप्त, बड़े आरम्भ करनेवाले किसानोंसे सम्पन्न ॥ ५४ ॥

सानुरागो रिपुद्वेषी पीडाकरसहः पृथुः ।
नानादेश्यैः समाकीर्णो धार्मिकः पशुमान् धनी ॥ ५५ ॥

अपनेमे प्रेमकरनेवाला, राजशत्रुसे द्वेष करनेवाला, पीडाको सहलेने वाला, विशाल, अनेक देशकी वस्तु तथा अनेक देशके प्राणियोंसे भराहुआ धर्मात्मा, पशुसम्पन्न और धनी ॥ ५५ ॥

ईदृग्जनपदः शस्तोऽमूर्खव्यसनिनायकः ।
तं वर्द्धयेत्प्रयत्नेन तस्मात्सर्वं प्रवर्द्धते ॥ ५६ ॥

पराक्लिसा, इसप्रकारका देश प्रशंसाके योग्यहै और उसका नायकभी मूर्ख और विषयी नहो, उस देशको तथा राजाको यत्नसे बढाना चाहिये उसके बढनेसे सबकी वृद्धि होतीहै ॥ ५६ ॥

पृथुसीममहाखातमुच्चप्राकारगोपुरम् ।
समावेशत्पुरं शैलसरिद्धनवनाश्रयम् ॥ ५७ ॥

विशालसीमावाला अर्थात् बहुतसी भूमिको घेरकर बनाया हुआ बहुत गहरी खाई, ऊँची चार दिवारी छज्जोंसे सम्पन्न पुरके समीप पर्वत नदी तथा घने वनके समीप ॥ ५७ ॥

जलवद्धान्यधनवद्दुर्गं कालसहं महत् ।
दुर्गहीनो नरपतिर्वाताभ्रावयवैः समः ॥ ५८ ॥

जल, धान्य और धनसे भरा पुरा, समयको सहनेवाला, बडा दृढ दुर्गमाको बनाना चाहिये, किलेसे रहित राजा पवनसे प्रेरित मेघोंके टुकडोंकी समान छिन्न भिन्न होजाताहै ॥ ५८ ॥

औदकं पार्वतं वार्क्षमैरिणं धान्वनन्तथा ।
प्रशस्तं शास्त्रमतिभिर्दुर्गं दुर्गोपचिन्तकैः ॥ ५९ ॥

शास्त्रके ज्ञाता दुर्गके विधान जाननेवालोंने जलवाले, पर्वतवाले, वृक्षोंवाले, ऊसरभूमिवाले और धनसम्पत्तिवाले दुर्गकी प्रशंसा कीहै ॥ ५९ ॥

जलान्नायुधयन्त्राढ्यं धीरयोधैरधिष्ठितम् ।
गुप्तिप्रधानमाचार्य्या दुर्गं समनुमेनिरे ॥ ६० ॥

जल अन्न शस्त्र और यन्त्रोंसे सम्पन्न, धीरवीर योधाओंसे व्याप्त, प्रधान मंत्रि और आचार्योंसे रक्षित दुर्गकी बड़ाई की है ॥ ६० ॥

सापसाराणि दुर्गाणि भुवः सारूपजाङ्गलाः ।
निवासाय प्रशस्यन्ते भूभुजां भूतिमिच्छताम् ॥ ६१ ॥

जलवाले दुर्ग और सारूप (अपने अनुरूप) जांगलदेश यह ऐश्वर्यकी इच्छा करनेवाले राजोंके निवासके योग्य होतेहैं ॥ ६१ ॥

बह्वादानोऽल्पनिःस्रावः ख्यातः पूजितदैवतः ।
ईप्सितद्रव्यसम्पूर्णो हृद्य आप्तैरधिष्ठितः ॥ ६२ ॥

अब कोषका वर्णन करतेहैं बहुत ग्रहणवाला, थोड़े खर्चवाला, विख्यात अधिदेवतासे पूजित, मन ईप्सित द्रव्योंसे भरापुरा, सहृदय, सज्जनपुरुषोंसे सेवित ॥ ६२ ॥

मुक्ताकनकरत्नाढ्यः पितृपैतामहोचितः ।
धर्म्मार्जितो व्ययसहः कोषः कोषज्ञसम्मतः ॥ ६३ ॥

मोती, सुवर्ण और रत्नोंसे भरा, पिता पितामहके सम्बन्धसे आयाहुआ, धर्मसे उपार्जन किया हुआ, कैसाभी खर्च आपडे उसको सहलेनेवाला खजाना कोषाध्यक्षको सम्मतहै ॥ ६२ ॥

धर्म्महेतोस्तथार्थाय भृत्यानां भरणाय च ।
आपदर्थञ्च संरक्ष्यः कोषः कोषवता सदा ॥ ६४ ॥

धर्म और अर्थके निमित्त तथा भृत्योंके भरणपोषण करनेके निमित्त और आपत्तिके निमित्त कोषवालेको कोषकी सदा रक्षा करनी चाहिये ॥ ६४ ॥

पितृपैतामहो वश्यः संहतो दत्तवेतनः ।
विख्यातपौरुषोजित्यः कुशलः कुशलैर्वृतः ॥ ६५ ॥

पिता पितामहोंके समयसे प्राप्त, वशीभूत, अपना परमहित, समयपर निरन्तर जिसके वेतन मिलतारहा, विख्यातपुरुषार्थवाला, समरजेता, चतुर चतुरजनोंसे सेवित ॥ ६५ ॥

नानाप्रहरणोपेतो नानायुद्धविशारदः ।
नानायोधसमाकीर्णो नीराजितहयद्विपः ॥ ६६ ॥

अनेकप्रकारके प्रहार लगे शरीरवाला, अनेक युद्ध करनेमें कुशल अनेक योधाओंसे वेष्टित, हाथी घोडोंकी सवारीसे नीराजित ॥ ६६ ॥

प्रवासायासदुःखेषु युद्धेषु च कृतश्रमः ।
अद्वैध्यक्षत्रियप्रायो दण्डो दण्डविदां मतः ॥ ६७ ॥

परदेशके परिश्रम और दुःख तथा युद्धोंमें परिश्रम किये हुए अद्वितीय क्षत्रीही दण्डनेता दण्डके जाननेवालोंने कहा है ॥ ६७ ॥

त्यागविज्ञानसत्त्वाढ्यं महापक्षं प्रियं वदम् ।
आयतिक्षममद्वैध्यं मित्रं कुर्वीत सत्कुलम् ॥ ६८ ॥

त्याग, विज्ञान और सत्त्वसम्पन्न मित्रके महापक्षको ग्रहण किये, प्रियवादी, आनेवाले समयके जाननेमें समर्थ, अव्यभिचारी, सत्कुलमें उत्पन्न मित्र करना चाहिये ॥ ६८ ॥

समुत्पन्नेषु कृच्छ्रेषु दारुणेष्वप्यसंशयम् ।
दर्शयत्यच्छहृदयः कुलीनश्चतुरस्तताम् ॥ ६९ ॥

दारुण कष्टोंमेंभी उपस्थित होनेमें निःसन्देह स्वच्छहृदय कुलीन मित्रही ---ने प्राणोंके निर्मोहको दिखाता है ॥ ६९ ॥

पितृपैतामहं नित्यमद्वैध्यं हृदयानुगम् ।
महल्लघुसमुत्थानं मित्रं मित्रार्थमिष्यते ॥ ७० ॥

पिता पितामहके वंशक्रमसे प्राप्त नित्य अव्यभिचारी हृदयवाला महान और लघुउन्नतिशीलवाला मित्र, मित्रताके लिये इच्छा किया जाता है ॥ ७० ॥

दूरादेवाभिगमनं स्पष्टार्थहृदयानुगा ।
वाक् सत्कृत्य प्रदानञ्च त्रिविधो मित्रसंग्रहः ॥ ७१ ॥

दूरसेही सन्मुख गमन करना हृदयके अनुकूल स्पष्ट बोलना, वाणीसे सत्कारपूर्वक दान, यह तीन प्रकारसे मित्रका संग्रह होता है ॥ ७१ ॥

धर्म्मार्थकामसंयोगो मित्राणां त्रिविधं फलम् ।
यस्मादेतत्त्रयं न स्यान्नतत्सेवेत पण्डितः ॥ ७२ ॥

धर्म अर्थ और कामका संयोग यह तीन प्रकारसे मित्रोंके संग्रहका फल है, जिसमें यह तीनों न हों बुद्धिमान् उसका सेवन न करै ॥ ७२ ॥

आदौ तन्व्यो बृहन्मध्या विस्तारिण्यः पदे पदे ।
यामिन्यो न निवर्त्तन्ते सतां मैत्र्यः सरित्समाः ॥ ७३ ॥

प्रथम सूक्ष्म मध्यमें बृहत् फिर पदपदमें विस्तारवाली निरन्तर गामिनी नदीकी समान सत्पुरुषोंकी मित्रता कभी निवृत्त नहीं होती ॥ ७३ ॥

औरसं कृतसम्बद्धं तथा वंशक्रमागतम् ।
रक्षितं व्यसनेभ्यश्च मित्रं ज्ञेयं चतुर्विधम् ॥ ७४ ॥

सहोदर, सम्बन्धी तथा वंशपरम्परासे प्राप्त, व्यसनोंसे रक्षित ऐसे चार प्रकारके मित्र होतेहैं ॥ ७४ ॥

शुचिता त्यागिता शौर्य्यं समानसुखदुःखता ।
अनुरागश्च दाक्ष्यश्च सत्यता च सुहृद्गुणाः ॥ ७५ ॥

पवित्रता, त्याग, शूरता, सुखदु समे समानता अनुराग और दक्षता तथा सत्यता यह सुहृदोके गुण है ॥ ७५ ॥

तदर्थे ह्यनुरागश्च संक्षिप्त मित्रलक्षणम् ।
यस्मिन्नैतन्न तन्मित्रं तत्रात्मानं न निःक्षिपेत् ॥७६॥

और मित्रके निमित्त अनुराग यह सक्षेपमे मित्रके लक्षणहै, जिसमे यह बाते न हो वह मित्र नही है उसमे अपनीआत्माको अर्पण न करै ॥७६॥

इति स्वराज्य सकलं समीरितम्पराप्रतिष्ठाऽस्य धनं ससाधनम् ।
गृहीतमेतन्निपुणेन मन्त्रिणात्रिवर्गनिष्पत्तिमुपैतिशाश्वतीम् ॥७७॥

इसप्रकारसे राज्यका समस्त वर्णन किया यह विधान और प्रतिष्ठाक परमसाधन है, निपुणमत्री द्वारा यह सब ग्रहण करनेसे सदा रहनेवाली त्रिवर्गकी निष्पत्ति [धर्म अर्थ कामकी प्राप्ति] होती है ॥ ७७ ॥

यथान्तरात्मा प्रकृतीरधिष्ठितश्चराचरं विश्वमिदं समश्नुते ।
तथा नरेन्द्रः प्रकृतीरधिष्ठितश्चराचरं विश्वमिदं समश्नुते॥ ७८॥

जिसप्रकारसे प्रकृतिसे अधिष्ठित अन्तरात्मा इस चराचर जगत्को भोगता है, इसीप्रकार प्रजाओंसे प्रतिष्ठित राजा इस चराचर विश्वको प्राप्त कर भोगता है ॥ ७८ ॥

प्रकृतिभिरिति सम्यगर्चितोजनपदमादरवांस्तु पालयेत् ।
जनपदपरिपालनाच्चिरं स्पृशति नृपः परमं श्रियः पदम् ॥७९॥

प्रजाओंसे सत्कारको प्राप्त हुआ राजा आदरपूर्वक देशकी पालना करै जनपदके पालन करनेसे राजा बहुत समयतक पर लक्ष्मीके स्थानको प्राप्त करता रहता है ॥ ७९ ॥

प्रकृतिगुणसमन्वितः सुधीर्व्रजति नृपः स्पृहणीयतां पराम् ।
भवति च स रणेषु विद्विषां प्रबल इव श्वसनः पयोमुचाम्॥ ८०॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोष
दण्डमित्रवर्णनं नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

प्रजाके गुणोंसे युक्त बुद्धिमान् राजाकी बड़ी बड़ाई होतीहै, और वह युद्धमें शत्रुओंसे ऐसे प्रबल होजाता है, जिसप्रकार पवन मेघोंको छिन्न भिन्न कर देता है ॥ ८० ॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे भाषाटीकायां स्वाम्यमात्यजनपददुर्ग-
कोषदण्ड मित्रवर्णनं नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

पञ्चमः सर्गः ५.

इत्यर्थवृत्तिसम्पन्नाः कल्पवृक्षोपमं नृपम् ।
अभिगम्य गुणैर्युक्तं सेवेयुरनुजीविनः ॥ १ ॥

इसप्रकार अर्थवृत्तिसे सम्पन्न कल्पवृक्षके समान गुणोंसे युक्त राजाके समीप जाकर सेवक अनुजीवी पुरुष सेवा करें ॥ १ ॥

द्रव्यप्रकृतिहीनोऽपि सेव्यते सद्गुणान्वितः ।
भवत्याजीवनं तस्माच्छ्लाघ्यं कालान्तरादपि ॥ २ ॥

चाहें द्रव्य और प्रकृतिहीनभी हों पर सद्गुणोंसे युक्त होनेसे राजा सेवनीय होताहै, इससे आजीवन होताहै, और यह कालान्तरमें श्लाघनीय होता है ॥ २ ॥

अपि स्थाणुरिवासीत शुष्यन् परिगतः क्षुधा ।
न त्वेवानात्मसम्पन्नाद्वृत्तिमीहेत पण्डितः ॥ ३ ॥

चाहें ठूंठकी समान क्षुधासे व्याकुल होकर सूखजाय परन्तु पंडितजन गुणहीन अनात्मसम्पत्तिवाले राजासे वृत्तिकी इच्छा न करें ॥ ३ ॥

अनात्मवान्नयद्वेषी वर्द्धयन्नातिसम्पदः ।

प्राप्यापि महदैश्वर्य्यं सह तेन विपद्यते ॥ ४ ॥

जो अनात्मवान् नीतिका द्वेषी हो और उसके चाहें बडी सम्पत्तिकी वृद्धिहो, वह महान् ऐश्वर्यको प्राप्त होकरभी उसके सहित नष्ट होजाताहै ४

लब्धावकाशो निपुण आत्मवानविकारवान् ।

स्थाने स्थैर्य्यमवाप्नोति मतिकर्म्मसु निश्चितः ॥ ५ ॥

आत्मवान् अविकारी चतुर पुरुष कर्तव्य कर्मोमे निश्चयवाला समय पाकर, स्थानमे ऐश्वर्यको प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

आयत्याञ्च तदात्वे च यत्स्यादास्वादपेशलम् ।

तदेव तस्य कुर्वीत न लोकद्विष्टमाचरेत् ॥ ६ ॥

निश्चित प्रारब्धानुसार आगामी कालके आगमनमे तथा वर्तमानमे जो चतुराईसे उत्तम कार्य हो वही आरम्भ करै परन्तु प्राप्तिके निमित्त लोक द्वेषी कर्मको न करै ॥ ६ ॥

तिलाश्चम्पकसंश्लेषात्प्राप्नुवन्त्यधिवासताम् ।

रसो न भक्ष्यस्तद्गन्धः सर्व्वे सांक्रामिका गुणाः ॥७॥

चम्पेके साथ रखनेमे तिलोमे वैसेही, सुगन्धि आजाती है, रस नही खाया जाता पर उसकी गन्ध तिलोमे जाती है, इसकारण सम्पूर्ण गुण संक्रामिक है ॥ ७ ॥

अपां प्रवाहो गाङ्गो वा समुद्रं प्राप्य तद्रसः ।

भवत्यपेयस्तद्विद्वान्नाश्रयेदशुभात्मकम् ॥ ८ ॥

जलोका वा गंगाजलोका प्रवाह जब सागरमे जाता है तब पीनेके योग्य नही रहता, इससे विद्वान्‌को उचित है कि, अशुभ गुणवालेका आश्रय न करै ॥ ८ ॥

क्लिश्यन्नपि हि मेधावी शुद्धं जीवनमाचरेत् ।

तेनेह श्लाघ्यतामेति लोकेभ्यश्च न हीयते ॥ ९ ॥

बुद्धिमान्‌को चाहें क्लेशभी रहै पर अपना जीवन शुद्ध रक्खे, इससे उसकी बड़ाई होती है और लोकोंमें हीनता नहीं होती ॥ ९ ॥

अभिलष्यं स्थिरं पुण्यं ख्यातं सिद्धैर्निषेवितम् ।
सेवेतसिद्धिमन्विच्छन् श्लाघ्यविन्ध्यमिवेश्वरम् ॥ १० ॥

विख्यात और सिद्धोंसे सेवित स्थिरपुण्यकी अभिलाषा करता हुआ सिद्धिकी इच्छासे विन्ध्यकी समान अपने श्लाघनीय ईश्वरकी सेवा करै १०

दुरापमपि लोकेऽस्मिन् यद्यद्वस्त्वभिवाञ्छति ।
तत्तदाप्नोपि मेधावी तस्मात्कार्य्यः समुद्यमः ॥ ११ ॥

कठिनतासेभी इस लोकमें प्राप्तहोनेयोग्य जिसजिस वस्तुकी इच्छा करता है, पुरुषार्थसे बुद्धिमान् उस उसको प्राप्त होता है इससे निरन्तर उद्यम करना चाहिये ॥ ११ ॥

आरिराधयिषुः सम्यगनुजीवी महीपतिम् ।
विद्याविनयशिल्पाद्यैरात्मानमुपपादयेत् ॥ १२ ॥

अनुजीवीवर्ग अपने राजाके आराधनकी भलीप्रकारसे इच्छा करता हुआ विद्या, विनय और शिल्पादिसे अपने आत्माको भूषित करै ॥ १२ ॥

कुलविद्याश्रुतौदार्य्यशीलविक्रमधैर्य्यवान् ।
वपुः सत्वबलारोग्यस्थैर्य्यशौचदयान्वितः ॥ १३ ॥

कुल, विद्या, शास्त्र, उदारता, शील, विक्रम, धैर्य, सत्व, बल, आरोग्य, स्थिरतायुक्त शरीर तथा शौच और दयासे संयुक्त होकर ॥ १२ ॥

पैशुन्यद्रोहसम्भेदशाठ्यलौल्यानृतातिगः ।
स्तम्भचापलहीनश्च सेवनं कर्तुमर्हति ॥ १४ ॥

और चुगली, द्रोह, भेदकराना, सहता, चंचलता, असत्यता, स्तम्भता, चपलता, इनसे रहित होकरही राजाकी सेवा होसकतीहै ॥ १४ ॥

दक्षता भद्रता दार्ढ्यं क्षान्तिः क्लेशसहिष्णुता ।
सन्तोषः शीलमुत्साहो मण्डयत्यनुजीविनम् ॥ १५ ॥

चतुराई, सभ्यता, दृढता, क्षमाशीलता, क्लेशमें सहनशीलता, सन्तोष शील और उत्साह यह अनुजीवियोंको शोभित करतेहैं ॥ १५ ॥

अर्थशौचपरो नित्यं गुणैरेतैः समन्वितः ।
भूतये भूतिसम्पन्नं साधु विश्वासयेन्नृपम् ॥ १६ ॥

नित्य अर्थशुद्धिमें तत्पर इन गुणोंसे सम्पन्न हुआ साधुसेवक ऐश्वर्य और कल्याणके निमित्त ऐश्वर्यसम्पन्न राजाको विश्वास दिलावे ॥ १६ ॥

प्रविश्य सम्यगुचिते स्थाने तिष्ठन् स वेषवान् ।
यथाकालमुपासीत राजानं विनयान्वितः ॥ १७ ॥

नम्र वेषधारण किये वा जैसा वेष उस अधिकारीका नियत है उस वेषको धारण किये राजस्थानमें प्रवेशकर उचित स्थानमें स्थित होकर विनयपूर्वक यथासमय राजाकी सेवा करै ॥ १७ ॥

परस्थानासनं क्रौर्य्यमौद्धत्यं मत्सरं त्यजेत् ।
विगृह्य कथनञ्चैव न कुर्य्याज्ज्यायसा सह ॥ १८ ॥

दूसरेका स्थान, आसन, क्रूरता, उद्धतपन और मत्सरका त्याग करै, कथनको ग्रहण कर अधिक बडोसे वाद न करै ॥ १८ ॥

विप्रलम्भञ्च मायाञ्च दम्भं स्तेयञ्च वर्जयेत् ।
पुत्रेभ्यश्च नमस्कुर्य्याद्वल्लभेभ्यश्च भूपतेः ॥ १९ ॥

उपालम्भके वचन, माया, दम्भ और चोरीको न करै राजाके पुत्र और राजाके प्रियजनोंसेभी प्रणाम करै ॥ १९ ॥

न नर्म्मसचिवैः सार्द्धं किञ्चिदप्यप्रियं वदेत् ।
ते हि मर्म्माण्यभिन्दन्ति प्रहासेनापि संसदि ॥ २० ॥

परिहास मंत्रियोंसे कुछभी अप्रिय न कहै, वेही सभामें हास्यपूर्वक मर्ममें प्रहार करते हैं ॥ २० ॥

भर्तुरन्वासने तिष्ठन् दृष्टिं नान्यत्र विक्षिपेत् ।
कुर्य्यात्किमयमित्यस्य तिष्ठेच्चास्यं विलोकयन् ॥२१॥

स्वामीके पीछे निर्दिष्ट आसनपर स्थित हुआ इधर उधर दृष्टिको चलायमान न करै, और यह क्या कहैंगे इसप्रकार उस स्वामीकेही मुखकी ओर देखता हुआ स्थित रहै ॥ २१ ॥

कोऽत्रेत्यहमिति ब्रूयात्सम्यगाज्ञापयेति च ।
आज्ञां चावितथीकुर्य्याद्यथाशक्त्याऽविलम्बितम् ॥२२॥

कौन है ऐसा कहनेपर मैंहूं क्या आज्ञाहै ऐसा कहे और यथाशक्ति शीघ्रही उस आज्ञाको सम्पादन करे विफल न करै ॥ २२ ॥

उच्चैःप्रहसनं कासं ष्ठीवनं कुत्सनंतथा ।
जृम्भणं गात्रभङ्गञ्च पर्वास्फोटञ्च वर्जयेत् ॥ २३ ॥

ऊँचे स्वरसे हँसना, बहुत खाँसना, खँकारना, कुत्सन (निन्दा) जंभाई लेना, अंगड़ाई लेना, ऊंगली चटकाना इतनी बातें राजसभामें कभी न करनी चाहिये ॥ २३ ॥

प्रविश्य सानुरागस्य चित्तं चित्तज्ञसम्मतः ।
समर्थयंश्च तत्पक्षं साधु भाषेत भाषितः ॥ २४ ॥

सभामें प्रवेश करके प्रेमपूर्वक स्वामीके चित्तकी वृत्तिको देखकर उनके पक्षकोही समर्थन करताहुआ पूँछनेपर शुभवचन बोले ॥ २४ ॥

तन्नियोगेन वा ब्रूयादर्थं सुपरिनिश्चितम् ।
सुखप्रवृद्धगोष्ठीषु विवादे वादिनां मतम् ॥ २५ ॥

अथवा स्वामीके आज्ञा देनेपर निश्चित अर्थको बोले और जब सुखवृद्धिकारी गोष्ठी होरहीहो तब उस विवादमें वादियोंके मतको ॥ २५ ॥

विजानन्नपि न ब्रूयाद्भर्तुः क्षिप्तोत्तरं वचः ।
प्रवीणोऽपि हि मेधावी वर्जयेदभिमानिताम् ॥ २६ ॥

जानकरभी न कहै, स्वामीके पूंछे विना कभी शीघ्र उत्तर न दे, प्रवीणता और बुद्धिमत्ताका अभिमान न करै ॥ २६ ॥

यदप्युच्चैर्विजानीयान्नीचैस्तदपि कीर्त्तयेत् ।
कर्म्मणा तस्य वैशिष्ट्यं कथयेद्विनयान्वितः ॥२७॥

जो बात विशेषतासेभी जानीगई हो उसेभी शनैःशनैः नम्रतासे कथन करै, विनययुक्त होकर कर्मसेही उसकी श्रेष्ठता सम्पादन करै ॥ २७ ॥

आपद्युन्मार्गगमने कार्य्यकालात्ययेषु च ।
अपृष्टोऽपि हितान्वेषी ब्रूयात्कल्याणभाषितम् ॥ २८ ॥

स्वामीके आपदग्रस्त होने, कुमार्गमे चलने तथा कार्यका काल व्यतीत होता देखे तो, हितकी इच्छावाला कल्याणके वचनोको विनापूंछे भी कहै२८

प्रियं तथ्यञ्च पथ्यञ्च वदेद्धर्मार्थमेव च ।
अश्रद्धेयमसत्यञ्च परोक्षं कटु चोत्सृजेत् ॥ २९ ॥

प्यारे, सत्य, हितकारी, धर्मअर्थसयुक्त वचन बोले, तथा श्रद्धाके अयोग्य असत्यवचन और परोक्षमे कटुवचनोको त्यागदे ॥ २९ ॥

परार्थं देशकालज्ञो देशे काले च साधयेत् ।
स्वार्थञ्च स्वार्थकुशलः कुशलेनानुकारिणा ॥ ३० ॥

देशकालका जाननेवाला यथोचित देशकालमे परार्थको साधन करे, और स्वार्थकुशल, कुशल अर्थात् भले कार्योको करता हुआ देशकालानुसार अपना स्वार्थभी साधे ॥ ३० ॥

गुह्यं कर्म्म च मन्त्रञ्च न भर्त्तुः सम्प्रकाशयेत् ।
विद्विष्टिञ्च विनाशञ्च मनसापि न चिन्तयेत् ॥ ३१ ॥

स्वामीके गुप्त कर्म और मंत्रको किसीप्रकारभी प्रकाशित न करै, और विद्वेष तथा विनाशको मनसेभी न विचारै ॥ ३१ ॥

स्त्रीभिस्तद्दर्शिभिः पापैर्वैरिदूतैर्निराकृतैः ।
एकार्थचर्य्यां साहित्यं संसर्गञ्च विवर्जयेत् ॥ ३२ ॥

स्त्रीजन तथा उनके देखनेवाले पापीजन तथा वैरीके दूत, वा जिनका तिरस्कार कियाहो, एकही प्रयोजनवालोंका संसर्ग और साहित्यका निरन्तर सेवन, इनको त्यागन करदे ॥ ३२ ॥

वेषभाषानुकरणं न कुर्य्यात्पृथिवीपतेः ।
सम्पन्नोऽपि हि मेधावी स्पर्द्धेत न च तद्गुणैः ॥ ३३ ॥

राजाके वेष तथा बोलीका अनुकरण न करै, सम्पन्न होकरभी बुद्धिमान् उसके गुणोंकी स्पर्धा न करै ॥ ३३ ॥

रागापरागौ जानीयाद्भर्तुः कुशलकर्म्मकृत् ।
इङ्गिताकारलिङ्गाभ्यामिङ्गिताकारतत्त्ववित् ॥ ३४ ॥

चतुर कार्यका करनेवाला स्वामीकी प्रसन्नता और अप्रसन्नताको जाने, इन्द्रियोंकी चेष्टा और आकारके तत्त्वका जाननेवाला, इन्द्रियोंके आकार- और चेष्टाओंको जाने ॥ ३४ ॥

दृष्ट्वा प्रसन्नो भवति वाक्यं गृण्हाति चादरात् ।
दिशत्यासनमभ्यासे कुशलं परिपृच्छति ॥ ३५ ॥

जो देखतेही प्रसन्न होताहै, आदरसे उसके वाक्यको ग्रहण करताहै, समीप आसन देकर कुशल पूँछताहै ॥ ३५ ॥

विविक्तदर्शनस्थाने रहस्ये च न शङ्कते ।
तदर्था तत्कृतामुच्चैराकर्णयति सत्कथाम् ॥ ३६ ॥

एकान्तदर्शन स्थान और रहस्य कथनमें जो शंका नहीं करताहै,

सेवकके अर्थ तथा उसके कर्तव्यको जो प्रगट होकर सुनताहै, उसके चरित्रको मन लगाकर सुनताहै ॥ ३६ ॥

श्लाघते श्लाघनीयेषु श्लाघ्यमानश्च नन्दति ।
कथान्तरेषु स्मरति प्रहृष्टः कीर्त्तयेद्गुणान् ॥ ३७ ॥

जो तारीफ करनेयोग्योंमे बडाई करताहै, जो उसकी बडाई करै उससे प्रसन्न होताहै, दूसरी वार्ताओमे उसको स्मरण करताहै और प्रसन्न होकर गुणोंको कीर्तन करताहै ॥ ३७ ॥

सहते पथ्यमप्युक्तं न निन्दामनुमन्यते ।
करोति वाक्यं तत्प्रोक्तं तद्वचो बहु मन्यते ॥ ३८ ॥

सेवकके युक्त तथा पथ्यवचनकोभी सहलेना और उसकी निन्दाको न मानना, उसके कहेहुए वचनको करना और उसके वचनको बहुत मानना यह तो स्वामीकी प्रसन्नताके लक्षण है ॥ ३८ ॥

उपकारेषु माध्यस्थ्यं दर्शयत्यद्भुतेष्वपि ।
तत्कृतं कर्म्म चान्येन कृतमित्यभिधीयते ॥ ३९ ॥

और अद्भुत उपकारोंमेभी मध्यस्थता दिखानी, और उसके कियेहुए कर्मको दूसरेका कियाहुआ बताना ॥ ३९ ॥

विपक्षमुत्थापयति विनाशं चाप्युपेक्षते ।
कार्य्ये संवर्द्धयत्याशां फले च कुरुतेऽन्यथा ॥ ४० ॥

उसके विपक्षको उठाना और विनाशकी उपेक्षा करनी उसके कार्यपर आशा बढानी और उसका फल न देना ॥ ४० ॥

यद्वाक्य मधुरं किञ्चित्तदप्यर्थेननिष्ठुरम् ।
आचरत्यात्मशंसासु परिवादश्च केवलम् ॥ ४१ ॥

जो सेवकका वाक्य मधुर हो तोभी अर्थसे उसको निष्ठुर मानलेना, और अपनी श्लाघामे सेवककी केवल निन्दाही करना ॥ ४१ ॥

अकोपोऽपि सकोपाभः प्रसन्नश्चापि निष्फलः ।
वदत्यकस्माद्व्रजति रूक्षश्च मुहुरीक्षते ॥ ४२ ॥

उसके क्रोधरहित होनेपरभी क्रोध मानलेना, वा स्वयं क्रोधरहित होनेपरभी उसके सन्मुख क्रोधकी आभा प्रगट करनी, प्रसन्न होनेपरभी फल न देना, उसके कथन करतेहुए भी अकस्मात् उठकर चलदेना, और रूखेपनसे वारंवार देखना ॥ ४२ ॥

आघट्टयति मन्त्राणि ब्रुवन् हास्यं प्रपद्यते ।
सम्भावयति दोषेण वृत्तिच्छेदं करोति च ॥ ४३ ॥

उसके गुप्तभेदको खोल देना, उसके बोलनेपर हँसदेना, सेवकपर दोषारोपण करना तथा उसकी आजीविकाका विच्छेद करदेना [जुरमाना तनख्वाह घटानी, वा मुअत्तल करदेना] ॥ ४३ ॥

साधूक्तमपि तद्वाक्यं समर्थयति चान्यथा ।
अपर्वणि कथाभङ्गं करोति विरसीभवन् ॥ ४४ ॥

उसके अच्छे कथनकोभी अन्यथा समझना, विना पर्वकेभी कथाभङ्ग करदेना तथा विरस रहना ॥ ४४ ॥

उपास्यमानः शयने सुप्तलक्ष्येण तिष्ठति ।
बलेन बोध्यमानोऽपि सुप्तवच्च विचेष्टते ॥ ४५ ॥

सोते समयसे वा देखनेकी सेजपर जागतेहुए सोनेकेसा आकार किये रहना और बलपूर्वक जगानेपरभी सोतेहुएकी समान रहना, यह विरक्त स्वामीके लक्षणहैं ॥ ४५ ॥

इत्यादि ह्यनुरक्तस्य विरक्तस्य च लक्षणम् ।
रक्ताद्वृत्तिं समीहेत विरक्तस्य विवर्जयेत् ॥ ४६ ॥

इसप्रकार यह स्वामीके अनुरक्त और विरक्तके लक्षण कहे, अनुरक्त स्वामीसे वृत्तिकी इच्छा करे और विरक्तको त्यागदे ॥ ४६ ॥

अप्रियोऽपि हि पथ्यः स्यादितिवृद्धानुशासनम् ।
वृद्धानुशासने तिष्ठन् प्रियतामधिगच्छति ॥ ५८ ॥

वृद्धोने यह बात कहीहै कि, अप्रियवचनही हितकारी होताहै, जो वृद्धोकी आज्ञामे चलताहै वह प्रियताका प्राप्त होताहै ॥ ५८ ॥

आजीव्यः सर्वभूतानां राजा पर्जन्यवद्भुवि ।
निराजीव्यं त्यजन्त्येनं शुष्कवृक्षमिवाण्डजाः ॥५९॥

राजा मेघोकी समान भूमिमे सब प्राणियोको आजीविका देनेवाला होता है, और जो आजीविका नही देता उसको सबकोई इसप्रकार त्यागकर जाते है जिसप्रकार पक्षी सूखे पेडको त्यागदेते है ॥ ५९ ॥

कुलं वृत्तञ्च शौर्य्यञ्च सर्व्वमेतन्न गण्यते ।
दुर्वृत्तेऽप्यकुलीनेऽपि जनो दातरि रज्यते ॥ ६० ॥

कुलचारित्र, शूरता उसमे यह कुछभी नही गिनीजाती दुश्चरित्र तथा अकुलीन दातासेभी यह प्राणी अनुराग करते है ॥ ६० ॥

लक्ष्मीरेवान्वयो लोके न लक्ष्म्याः परतोऽन्वयः ।
यस्मिन् कोषो बलञ्चैव तस्मिँल्लोकोऽनुगच्छति॥६१॥

लोकमे लक्ष्मीही वशहै लक्ष्मीके परत्व वश नही है, जिसमे कोप और बलहै वह लोक उसीमे अनुराग करताहै ॥ ६१ ॥

उत्थिता एव पूज्यन्ते जनाः कार्य्यार्थिभिर्नरैः ।
शत्रुवत् पतितं कोऽनुवन्दते मानवं पुनः ॥ ६२ ॥

कार्यअभिलाषी पुरुषोद्वारा उदयको प्राप्तहुए पुरुष पूजेजातेहै और शत्रुकी समान पतितमनुष्यकी कौन वन्दना करताहै ॥ ६२ ॥

अर्थार्थी जीवलोकोऽयं ज्वलन्तमुपसर्पति ।
क्षीणक्षीरां निराजीव्यां वत्सस्त्यजति मातरम् ॥६३॥

धनकी इच्छाकरनेवाला यह लोक मज्वलित पुरुषकीभी सेवा करताहै
ौर दुग्धहीन जीविका न देनेवाली माताको बछडाभी त्यागदेताहै ॥ ६३ ॥

अहापयन्नृपः कालं भृत्यानामनुजीविनाम् ।
कर्म्मणामानुरूप्येण वृत्तिं समनुकल्पयेत् ॥ ६४ ॥

राजाको उचितहै कि, सेवक अनुजीवियोंकी वृत्ति दानका समय न व्यतीत
रै उनके कर्मके समान वृत्तिकी कल्पना न करै ॥ ६४ ॥

काले स्थाने च पात्रे च नहि वृत्तिं विलोपयेत् ।
एतद्वृत्तिविलोपेन राजा भवति गर्हितः ॥ ६५ ॥

काल स्थान और पात्रमें वृत्तिका कभी लोप न करै इस वृत्तिके लोपसे राजा
की निन्दा होतीहै ॥ ६५ ॥

अपात्रवर्षणं जातु न कुर्य्यात्सद्भिगर्हितम् ।
अपात्रवर्षणादन्यत्किं स्यात्कोषक्षयादृते ॥ ६६ ॥

सत्पुरुषोंसे निन्दित अपात्रमें राजा कभी दान न करै, अपात्रमें दान
करनेसे कोशक्षयके सिवाय और क्या लाभहै ॥ ६६ ॥

कुलं विद्यां श्रुतं शौर्य्यं सौशील्यं भूतपूर्वताम् ।
वयोऽवस्थाञ्च संप्रेक्ष्य आद्रियेत महात्मवान् ॥ ६७ ॥

कुल, विद्या, शास्त्र, शूरता, सुशीलता उसके पूर्व चरित्र वा कुल, वय,
अवस्थाको देखकर महात्माको आदर करना चाहिये ॥ ६७ ॥

कुलीनान्नावमन्येत सम्यग्वृत्तान्मनस्विनः ।
त्यजन्त्येतेवमन्तारं घ्नन्ति वा मानहेतुना ॥ ६८ ॥

बुद्धिमान्को उचितहै कि, भलीवृत्तिवाले कुलीनपुरुषोंका कभी तिरस्कार
न करै यह तिरस्कार करनेवालेको त्यागदेते हैं वा मानके कारण मार-
डालतेहैं ॥ ६८ ॥

गुणैरुदारैः संयुक्तान् प्रोन्नयेन्मध्यमाधमान् ।
महत्वं प्राप्नुवन्तस्ते वर्द्धयन्ति नरेश्वरम् ॥ ६९ ॥

उदारगुणोंमें संयुक्त मध्यम और अधम पुरुषोंकी उन्नति चाहिये, यह महत्वको प्राप्तहोकर राजाकी वृद्धि करतेहैं ॥ ६९ ॥

उत्तमाभिजनोपेतान् न नीचैः सह वर्द्धयेत् ।
कृशोऽपि हि विवेकज्ञो याति संश्रयणीयताम् ॥ ७० ॥

उत्तमगुणवालोंको नीचगुणवालेजनोंकेसाथ वृद्धि नकरै, कृशताको प्राप्त हुआभी विवेकीपुरुष राजाके आश्रयको प्राप्तहोताहै इसमें सन्देह नहीं ॥ ७० ॥

निरालोके हि लोकेऽस्मिन्नासते तत्र पण्डिताः ।
जात्यस्य हि मणेर्यत्र काचेन समता मता ॥ ७१ ॥

अन्धकारवाले अज्ञानीके समीप पंडितजन स्थिति नहीं करतेहैं जहां जातिसज्जमणि और काचका समान बर्ताव किया जाता है ॥ ७१ ॥

विश्राम्यन्ति महात्मानो यत्र कल्पतराविव ।
स श्लाघ्यं जीवति श्रीमान् सत्यं भोगफलाः श्रियः ॥ ७२ ॥

जिस राजामें सज्जनपुरुष कल्पवृक्षके समान विश्राम पातेहैं वह श्रीमान् राजा बडाईको प्राप्त होता हुआ जीताहै और उसे सत्यस्वरूप लक्ष्मी भोग्यफलकी करनेवाली होतीहै ॥ ७२ ॥

लक्ष्म्या लक्ष्मीवतां लोके विकाशिन्या च किन्तया ।
बन्धुभिश्च सुहृद्भिश्च विश्रब्धं या न भुज्यते ॥ ७३ ॥

संसारमें उस लक्ष्मीवालेकी प्रकाशित लक्ष्मीसे क्या फल है जिसको बन्धु और सुहृज्जन निष्कण्टक भोगनहीसकते ॥ ७३ ॥

आपद्द्वारेषु सर्वेषु कुर्य्यादाप्तान् परीक्षितान् ।
आददीत धनं तेभ्यो भास्वानस्रेरिवोदकम् ॥ ७४ ॥

राजाको उचित है कि, सम्पूर्ण आपत्तिके द्वारमें परीक्षा किये आप्त पुरुषोंको नियुक्त करै, और जिसप्रकार सूर्य अपनी किरणोंसे जल ग्रहण करता है, इसप्रकार उनसे थोडा थोड़ा धन ग्रहण करै ॥ ७४ ॥

अभ्यस्तकर्म्मणस्तज्ज्ञान् शुचीन् सुज्ञानसम्मतान् ।
कुर्य्यादुद्योगसम्पन्नानध्यक्षान् सर्वकर्म्मसु ॥ ७५ ॥

सम्पूर्ण राजकाजमें उस २ कर्मके अभ्यासी उसको विशेष जाननेवाले शुचि णरहित अच्छे ज्ञानमें सम्मत उद्योगसे सम्पन्न अध्यक्षोंको नियत करै ७५ ॥

यो यद्वस्तु विजानाति तं तत्र विनियोजयेत् ।
अशेषविषयप्राप्ताविन्द्रियार्थ इवेन्द्रियम् ॥ ७६ ॥

जो जिस कार्यको जानताहो उसको उसी कार्यमें नियुक्त करै सम्पूर्णविषयको प्राप्तहोनेवाली इन्द्रियां जैसे अपने २ विषयकोही प्राप्त होतीहैं ॥ ७६ ॥

कोष्ठागारेऽभियुक्तः स्यात्तदायत्तं हि जीवितम् ।
नात्ययश्च व्ययं कुर्य्यात्प्रत्यवेक्षेत चान्वहम् ॥ ७७ ॥

जो कोष्ठागार (खजाना) में नियुक्त है जीवन उसीके अधीनहै उसको निरन्तर परीक्षा करतारहै और अधिक व्यय न करै ॥ ७७ ॥

कृषिर्वणिक्पथो दुर्गं सेतुः कुञ्जरबन्धनम् ।
खन्याकरधनादानं शून्यानाञ्च निवेशनम् ॥ ७८ ॥

कृषि, व्यापारमार्ग, किला सेतु हस्तिबन्धनस्थान, खानसे मणिरत्नधनका आगम, शून्यस्थानोंका बसाना ॥ ७८ ॥

अष्टवर्गमिमं साधुस्वच्छवृत्तो विवर्द्धयेत् ।
जीवनार्थमिहाजीव्यैः कर्त्तव्यः करणाधिकैः ॥ ७९ ॥

इन आठ वर्गोंको साधुतापूर्वक स्वच्छ वृत्तिसे बढावै और सेवक आदिके आजीवनके निमित्त अनेक कार्यालय कल्पना करै ॥ ७९ ॥

तथा यया प्रवर्त्तेत वृत्त्या क्षीणोऽपि पार्थिवः ।

तस्यां तस्यां न संरोधं कुर्य्यात्पण्योपजीविनाम् ॥ ८० ॥

क्षीणधनवाला भी राजा इस प्रकारकी वृत्तिसे वर्ते कि व्यापारसे आजी-विकावालोंका उस उस कार्यमें किसीप्रकार विघ्न न हो ॥ ८० ॥

यथा रक्षेच्च निपुणं सस्यं कण्टकिशाखया ।
फलाय लगुडः कार्य्यस्तद्वद्भोग्यमिदं जगत् ॥ ८१ ॥

जिसप्रकार चतुर पुरुष काटोंकी बाढसे खेतीकी रक्षा करताहै और फलप्राप्तिके निमित्त एक लकडी रखताहै इसप्रकार राजाको इस जगतकी रक्षा और भोग करना चाहिये ॥ ८१ ॥

आयुक्तकेभ्यश्चोरेभ्यः परेभ्यो राजवल्लभात् ।
पृथिवीपतिलोभाच्च प्रजानां पञ्चधा भयम् ॥ ८२ ॥

राजकर्मचारी, चोर, शत्रु, राजाके प्रियवर्ग और लोभीराजा, इन पाँचोंसे प्रजाको भय रहताहै ॥ ८२ ॥

पञ्चप्रकारमप्येतदपोह्यं नृपतेर्भयम् ।
आददीत धनं काले त्रिवर्गपरिवृद्धये ॥ ८३ ॥

राजाको यह पाचो प्रकारका भय दूर करना चाहिये और धर्म अर्थ कामकी वृद्धिके लिये समयपर प्रजासे धनग्रहण करना चाहिये ॥ ८३ ॥

यथा गौः पाल्यते काले दुह्यते च तथा प्रजा ।
सिच्यते चीयते चैव लता पुष्पफलार्थिना ॥ ८४ ॥

जैसे गौ पाली जातीहै और समयपर दूध देतीहै इसीप्रकार पालित हुई प्रजा समयपर धन देतीहै जैसे पुष्पफलकी इच्छावाले लताको सींचते बढाते पीछे समयपर फल-फूल पातेहैं ॥ ८४ ॥

आस्रावयेदुपचितान् साधु दुष्टव्रणानिव ।
आमुक्तास्ते च वर्त्तेरन् वह्नाविव महीपतौ ॥ ८५ ॥

दुष्टव्रणोंकी समान पकेहुए धनसे समृद्ध पुरुषोंको निचोडले अन्यथा

। दुष्टस्वभाववाले अग्निके समान राजामें वर्ताव करते हैं ॥ ८५ ॥

स्वल्पमप्यपकुर्वन्ति ये पापाः पृथिवीपतौ ।
ते वह्नाविव दह्यन्ते पतङ्गा मूढचेतसः ॥ ८६ ॥

जो पापात्मा राजाका थोड़ा भी अपकार करते हैं वे मूढबुद्धि अग्निमें पतङ्गके समान भस्म होजातेहैं ॥ ८६ ॥

संवर्द्धयेत्सदा कोषमाप्तैस्तज्ज्ञैरधिष्ठितम् ।
काले चास्य व्ययं कुर्य्यात्त्रिवर्गपरिवृद्धये ॥ ८७ ॥

आप्त तथा उस कार्यके ज्ञाता पुरुषोंसे खजानेकी सदा वृद्धि करै और धर्म अर्थ कामकी वृद्धिके लिये समयपर व्यय करै ॥ ८७ ॥

धर्म्मार्थं क्षीणकोषस्य कृशत्वमपि शोभते ।
सुरैः पीतावशेषस्य शरद्धिमरुचेरिव ॥ ८८ ॥

यदि धर्मके निमित्त कोष क्षीण होगया हो तो उस क्षीणकोषकी भी शोभा है जिसप्रकार शरद्में देवताओंसे अमृत पीलिये जानेसे भी क्षीण हुए चन्द्रमाकी शोभा होतीहै ॥ ८८ ॥

बृहस्पतेरविश्वासा इति शास्त्रार्थनिश्चयः ।
अविश्वासी तथा च स्याद्यथाच व्यवहारवान् ॥ ८९ ॥

बृहस्पतिका भी विश्वास न करै यह शास्त्रके अर्थका निश्चय है पर इतना अविश्वासी हो जितना कि, व्यवहारवाले पुरुष होतेहैं ॥ ८९ ॥

विश्वासयेदविश्वस्तान् विश्वस्तान्नातिविश्वसेत् ।
यस्मिन्विश्वासमायाति विभूतेः पात्रमेव सः ॥ ९० ॥

अविश्वासी पुरुषोंको विश्वास दिलावै और विश्वासियोंपर भी अधिक विश्वास न करै जिसपर राजाका विश्वास होजाताहै वही ऐश्वर्यका पात्र हो जाताहै ॥ ९० ॥

प्रादुर्भवन्त्यर्थसमं यस्माच्चित्तान्यनुक्षणम् ।

तस्माद्योगीव सततं तानि पश्येत्समाहितः ॥ ९१ ॥

जिसकारण कि,अर्थके साथही निरन्तर चित्तोंका नवीन प्रादुर्भाव होता है इसकारण योगीके समान सावधान होकर निरन्तर चित्तके विकारोंको देखता रहे ॥ ९१ ॥

अनुगतपरितोषितानुजीवीमधुरवचश्चरितानुरक्तलोकः ।
सुनिपुणपरमाप्तसक्ततन्त्रोभवतिनृपःसुचिरंप्रदीप्तरश्मिः ९२

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे स्वाम्यनुजीविवृत्तं नाम
पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

जिसने अनुगामी और अनुजीवियोको सन्तुष्ट करलियाहै तथा मधुर वचनोंसे लोकोको रञ्जित कियाहै और चतुर तथा आप्तपुरुषोंकी आज्ञा मानी है वह राजा सूर्यके समान प्रभावशाली होकर चिरकालतक राज्य करताहै ॥९२

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे भाषाटीकायां स्वाम्यनुजीविवृत्त
नाम पञ्चमः सर्गः ५ ॥

षष्ठः सर्गः ६.

लोके वेदे च कुशलः कुशलैः परिवारितः ।
आदृतश्चिन्तयेद्राज्यं स बाह्याभ्यन्तरं तथा ॥ १ ॥

लोक और वेदमें कुशल कुशलजनोंसे परिवारित हुआ तथा आदरको प्राप्तहुआ राजा बाहर और भीतर राज्यकी चिन्ता रक्खे ॥ १ ॥

आभ्यन्तरं शरीरं स्वं बाह्यं राष्ट्रमुदाहृतम् ।
अन्योन्याधारसम्बन्धादेकमेवेदमिष्यते ॥ २ ॥

इसमें आभ्यन्तर अपना शरीरहै और बाहरी राज्य कहाहै, परस्पर आधारके सम्बन्धसे यह दोनो एकही कहे है ॥ २ ॥

राज्याङ्गानान्तु सर्वेषां राष्ट्राद्भवति सम्भवः ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन राजा राष्ट्रं प्रसाधयेत् ॥ ३ ॥

राज्यसेही सम्पूर्ण राज्यके अंगोंका सम्भव होताहै, इससे सब प्रकारके यत्नोंसे राजा राज्यकी रक्षाकरे ॥ ३ ॥

लोकानुग्रहमन्विच्छन् शरीरमनुपालयेत् ।
राज्ञः संशरणं धाम शरीरं धर्म्मसाधनम् ॥ ४ ॥

और लोकके अनुग्रहकी इच्छा करताहुआ अपने शरीरकी रक्षाकरै, तथा राजाके आश्रयका स्थान और धर्मका साधन शरीर है ॥ ४ ॥

धर्म्यामारेभिरे हिंसामृषिकल्पा महीभुजः ।
तस्मादसाधून् पापिष्ठान्निघ्नन्पापैर्न लिप्यते ॥ ५ ॥

ऋषितुल्य राजाओंने धर्मसम्बन्धिनी हिंसामें दोष नहीं कहाहै, इस कारण असाधु पापात्माओंके दण्ड देनेसे राजा पापमें लिप्त नहीं होताहै॥५॥

धर्म्मसंरक्षणपरो धर्म्मेणार्थं विवर्द्धयन् ।
ये ये प्रजा प्रबाधेरंस्ताञ्छिष्याच्च महीपतिः ॥ ६ ॥

धर्मकी रक्षामें तत्पर धर्मसे ही अर्थको बढातेहुए राजाको उचित है कि, जो जो प्रजामें बाध दे उन उनका उच्छेद वा शिक्षा करे ॥ ६ ॥

यमार्य्याः क्रियमाणं हि शंसन्त्यागमवेदिनः ।
स धर्म्मोयं विगर्हन्ति तमधर्म्मं प्रचक्षते ॥ ७ ॥

शास्त्रके ज्ञाता श्रेष्ठपुरुष जिस कर्मकी बडाई करतेहैं, वह धर्म है और जिसकी निन्दा करते हैं वह अधर्म है ॥ ७ ॥

धर्म्माधर्म्मौ विजानन् हि शासनेऽभिरतः सताम् ।
प्रजां रक्षेन्नृपः साधु हन्याच्च परिपन्थिनः ॥ ८ ॥

राजा धर्म अधर्मको जानताहुआ सत्पुरुषोंके मार्गमें स्थितहुआ, भलीप्रकार प्रजाकी रक्षाकरे और विद्रोहियोंको नष्टकरै ॥ ८ ॥

राज्योपघातं कुर्वाणा ये पापा राजवल्लभाः ।
एकैकशः सहता वा दूष्यांस्तान् परिचक्षते ॥ ९ ॥

जो पापी राजप्रियपुरुष राज्यका घात करतेहैं एक २ वा मिलेहुए उन सबको दूषणीय कहाहै ॥ ९ ॥

दूष्यानुपांशु दण्डेन हन्याद्राजाऽविलम्बितम् ।
अदृश्यं वा प्रकाशं वा लोकविद्वेषमागतान् ॥ १० ॥

राजा शीघ्रही ऐसे दूष्यपुरुषोंको दण्डसे नष्ट करे और प्रगट वा अप्रगट लोकोंका विद्वेष करनेवाले ॥ १० ॥

राजा रहसि दूष्यं हि दर्शनायोपमन्त्रयेत् ।
गूढशस्त्रा विशेयुस्तत्पश्चादासंज्ञिता नराः ॥ ११ ॥

दूष्यपुरुषोंको राजा एकान्तमें देखनेकी इच्छाकरे और उनके देखनेवाले पुरुष शस्त्र छिपाकर उनके पीछे गमन करें और उनकी परीक्षा करे ॥ ११ ॥

विश्वस्तांस्तान्विचिन्वीयुर्द्वाःस्था कक्षान्तरं गतान् ।
ते शस्त्रग्राहका ब्रूयुः प्रयुक्ताः स्म इति स्फुटम् ॥ १२ ॥

और विश्वास दिलाकर उनकी खोजकरे, और दूसरे स्थानमें युद्धस्थलमें स्थित होकर वे शस्त्रके ग्रहण करनेवाले कहें कि, हम तुम्हारे नष्टकरनेको नियुक्त हुए है तुम्हारा यह अपराध है इसप्रकार प्रगट कहे ॥ १२ ॥

इति दूष्यांस्तु संदूष्य प्रजानामभिवृद्धये ।
विनयन् प्रियउत्कर्षं राजशल्यं समुद्धरेत् ॥ १३ ॥

इसप्रकार प्रजाकी वृद्धिके निमित्त दूषित पुरुषोंके दोषकी घोषणा करके नष्ट करे और विनीत प्रियजनकी उत्कर्षता साधन करताहुआ राज्यके कण्टकोंको नष्ट करे ॥ १३ ॥

यथा बीजाङ्कुरः सूक्ष्मः परिपुष्टोऽभिरक्षितः ।
काले फलाय भवति साधु तद्वदियं प्रजा ॥ १४ ॥

जैसे सूक्ष्म बीजांकुरभी रक्षाकरनेसे पुष्ट होजाता है और समयपर फल देता है इसीप्रकार रक्षित प्रजाभी समयपर फल देती है ॥ १४ ॥

उद्वेजयति तीक्ष्णेन मृदुना परिभूयते ।
तस्माद्यथार्हतो दण्डं नयेत्पक्षमनाश्रितः ॥ १५ ॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे कण्टकशोधनं नाम
षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

तीक्ष्ण दण्डसे प्रजा उद्वेगको प्राप्त होती है मृदुदण्डसे तिरस्कार करनेलगती है, इसकारण यथा अपराध मध्यमा वृत्तिसे किसीका पक्ष न लेता हुआ राजा दण्डविधान करै ॥ १५ ॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे भाषाटीकायां कण्टकशोधनं नाम
षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

सप्तमः सर्गः ७.

प्रजात्मश्रेयसे राजा कुर्वीतात्मजरक्षणम् ।
लोलुभ्यमानास्तेऽर्थेषु हन्युरेनमरक्षिताः ॥ १ ॥

प्रजा और अपने कल्याणके निमित्त राजा अपने पुत्रकी रक्षा करै, यदि वे पुत्रादि रक्षित नरक्खेजाँय तो वही अर्थोंमें लुब्ध होकर राजाको मारदेते हैं ॥ १ ॥

राजपुत्रा मदोन्मत्ता गजा इव निरङ्कुशाः ।
भ्रातरं वा विनिघ्नन्ति पितरं वाऽभिमानिनः ॥ २ ॥

मदोन्मत्त हुए राजपुत्र निरंकुश हाथीके समान अभिमानी होकर भ्राता वा पिताको मारडालतेहैं ॥ २ ॥

राजपुत्रैर्मदोपेतैः प्रार्थ्यमानमितस्ततः ।
दुःखेन रक्ष्यते राज्यं व्याघ्रावातमिवामिषम् ॥ ३ ॥

मदोन्मत्त राजपुत्रोंकी अनेक विषयोंकी प्रार्थनासे राज्यकी रक्षा बडी कठिनाईसे होती है, जैसे व्याघ्रसे सूंघे मासकी व्याघ्रके होते रक्षा नहीं होसकती ॥ ३ ॥

रक्ष्यमाणा यदि च्छिद्रं कथञ्चित् प्राप्नुवन्ति ते ।
सिंहशावा इव घ्नन्ति रक्षितारमसंशयम् ॥ ४ ॥

रक्षित हुएभी वे यदि किसीप्रकारसे किसी छिद्रको देखलेते है तो सिंहके बच्चेकी समान निःसन्देह अपने रक्षकको भी मारडालतेहै ॥ ४ ॥

विनयोपग्रहान्भृत्यैः कुर्व्वीत नृपतिः सुतान् ।
अविनीतकुमारं हि कुलमाशु विनश्यति ॥ ५ ॥

राजाको उचित है कि, अपने भृत्योंद्वारा राजपुत्रोंको विनय शिखावै, यदि कुमार विनीत न होगा तो वह कुल शीघ्रही नष्ट होजायगा ॥ ५ ॥

विनीतमौरसं पुत्रं यौवराज्येऽभिषेचयेत् ।
दुष्टं गजमिवोद्वृत्तं कुर्व्वीत सुखबन्धनम् ॥ ६ ॥

नम्र अपने औरस पुत्रको जो सवर्ण भार्यासे उत्पन्न हुआ हो राजा युवराजमे अभिषेक करै, यदि दुर्विनीतहो तो जिसप्रकार दुष्टहाथीको बन्धनमे करतेहै, इसप्रकार इसको सुखबन्धनमें डाले जिससे कठिनाई न माने ६॥

राजपुत्रः सुदुर्वृत्तः परित्यागं हि नार्हति ।
क्लिश्यमानः स पितरं परानाश्रित्य हन्ति हि ॥ ७ ॥

दुर्वृत्तिवाले राजपुत्रका भी त्याग नही करना चाहिये, यदि उसे निकाला जायगा तो वह क्लेशित हो शत्रुका आश्रय कर पिताको मारदेगा ॥७॥

व्यसने सज्जमानं हि क्लेशयेद्व्यसनाश्रयैः ।
तथा च क्लेशयेदेनं यथा स्यात्पितृगोचरः ॥ ८ ॥

जब वह व्यसनमे पडा हो तो व्यसनके आश्रयीभूत पुरुषोंद्वारा इसको क्लेशितकरावे और इसको इसप्रकारसे क्लेश दे जिसप्रकार यह पिताकी

दृष्टिगोचर हो अर्थात् पिताकी सहायता क्लेश दूर होनेको चाहै ॥ ८ ॥

याने शय्यासने पाने भोज्ये वस्त्रे विभूषणे ।
सर्व्वत्रैवाप्रमत्तः स्याद्वर्ज्जेत विषदूषितम् ॥ ९ ॥

सवारी, शय्या, आसन, पान, भोजन, वस्त्र, भूषण इतनी वस्तुओंके व्यहारमें राजा सदा अप्रमत्त रहै । इनमें विष मिलादियाजाताहै इसलिये जानकर विषदूषितको त्यागदे ॥ ९ ॥

विषघ्नैरुदकैः स्नातो विषघ्नमणिभूषितः ।
परीक्षितं समश्नीयाज्जाङ्गुलाविद्भिषग्वृतः ॥ १० ॥

विषके दूरकरनेवाले जलोंसे प्रतिदिन स्नानकरे विषघ्नमणिसे भूषित हुआ राजा जाङ्गलविषके जाननेवाले वैद्योंसे युक्तहुआ परीक्षा करके भोजन करे ॥ १० ॥

भृङ्गराजः शुकश्चैव शारिका चेति पक्षिणः ।
क्रोशन्ति भृशमुद्विग्ना विषपन्नगदर्शनात् ॥ ११ ॥

भृङ्गराज (पक्षिविशेष) तोता,मैना यह पक्षी विष और सर्पको देखकर अत्यन्त उद्विग्न होकर चिल्लाने लगतेहैं ॥ ११ ॥

चकोरस्य विरज्येते नयने विषदर्शनात् ।
सुव्यक्तं माद्यति क्रौञ्चो म्रियते कोकिलःकिल ॥ १२ ॥

विषदर्शनसे चकोरके नेत्र विशेष लाल होजातेहैं, क्रौञ्च प्रगटही मत्त होजाताहै, और कोकिल विषदर्शनसे मरजाताहै ॥ १२ ॥

नित्यं जीवस्य च ग्लानिर्जायते विषदर्शनात् ।
एषामन्यतमेनापि समश्नीयात्परीक्षितम् ॥ १३ ॥

और नित्यही विषदर्शनसे जीवमात्रको ग्लानि होजातीहै, इनके सिवाय अन्य उपायोंसेभी परीक्षा करके भोजन करे ॥ १३ ॥

मयूरपृषतोत्सर्गे न भवन्ति भुजङ्गमाः ।

तस्मान्मयूरपृपतो भवने नित्यमुत्सृजेत् ॥ १४ ॥

मोरकी पीठके पख डालनेसे घरमे सर्प नही रहते, इससे घरमे नित्य मोरपख पडे रहने चाहिये ॥ १४ ॥

भोज्यमन्नं परीक्षार्थं प्रदद्यात्पूर्वमग्नये ।
वयोभ्यश्च ततो दद्यात्तत्र लिङ्गानि लक्षयेत् ॥ १५ ॥

भोजनयोग्य अन्नकी परीक्षा करनेके निमित्त पहले अग्निको दे, और फिर पक्षियोको देकर उनकी चेष्टा देखे ॥ १५ ॥

धूमार्चिर्नीलता वह्नेः शब्दस्फोटश्च जायते ।
अन्नेन विषदिग्धेन वयसां मरणम्भवेत् ॥ १६ ॥

यदि अग्निसे नीला धुऑ निकले और फूटनेके समान शब्दहो, और विषदग्ध अन्नसे पक्षी मरजॉय तो विषदग्ध अन्न जाने ॥ १६ ॥

अस्विन्नता मादकत्वमाशु शल्यं विवर्णता ।
अन्नस्य विषदिग्धस्य तथोष्मा स्निग्धमेचकः॥ १७॥

विषदूषित अन्नमे विरसता, मादकता, तत्काल शल्यका करदेना, विवर्णता, गरमी, स्याहीलिये चिकनाई होतीहै ॥ १७ ॥

व्यञ्जनस्याशु शुष्कत्वं क्वथने श्यामफेनता ।
गन्धस्पर्शरसाश्चैव नश्यन्ति विषदूषणात् ॥ १८ ॥

व्यञ्जनका शीघ्रही सूखजाना, पकानेमे काले फेन उठना, गन्ध, स्पर्श, रस, यह सबही विषदूषित अन्नके नष्ट होजातेहै ॥ १८ ॥

छायाऽतिरिक्ता हीना वा स्याद्रसे विषदूषिते ।
दृश्यते राजिरूर्ध्वा च फेनमण्डलमेव च ॥ १९ ॥

विषदूषित अन्नकी छाया भाफ अतिरिक्त वा हीन होती है, उसकी छाया ऊर्ध्वगामिनी होतीहै और फेन बहुत उठते है ॥ १९ ॥

रसस्य नीला पयसश्च ताम्रा मद्यस्य तोयस्य च कोकिलाभा ।
श्यामासरन्ध्राविषदूषितस्य मध्ये भवत्यूर्ध्वगता च लेखा॥ २०॥

विषदूषितरसकी लेखा नीली, दूधकी ताम्रवर्णकी, मद्य और जलकी कोकिलाके वर्णकी, तथा श्यामवर्णकी मध्यमें छिद्रवाली ऊर्ध्वगामिनी लेखा होतीहै ॥ २० ॥

आर्द्रस्य सर्वस्य भवेत्तु सद्यः प्रम्लानभावो विषदूषितस्य ।
पाकं विना क्वाथविनीतभावःसश्यामता चेतिवदन्तितज्ज्ञाः २१

विषदूषित सम्पूर्ण आर्द्रवस्तु शीघ्रही मलीन होजातीहैं, और इसके जाननेवाले कहतेहैं कि, पाकके विनाही वह क्वाथके समान सिकुडजाती हैं, और उन वस्तुओंमें श्यामता आजाती है ॥ २१ ॥

शुष्कस्य सर्वस्य विषोपदेहाद्विशीर्णता वाऽशुचिवर्णता च ।
खरं मृदु स्यान्मृदुनः खरत्वं वदन्ति के चाल्पकजन्तुघातम् २२

और सम्पूर्ण सूखी वस्तु विषके प्रयोगसे बिखरजाती वा अपवित्र रंगवाली अर्थात् कुरंगकी कठिन तीक्ष्णवस्तु कोमल होजाती और मृदु वस्तुमें कठिनता आतीहै, और जलमेंके छोटे २ जीव मरजातेहैं ॥ २२ ॥

प्रावारास्तरणानाञ्च श्याममण्डलकीर्णता ।
तन्तूनां पक्ष्मणां लोम्नां स्याद्ध्वंसश्च विषाश्रयात्॥ २३॥

ओढने बिछानेके कपडोंमें विषप्रयोग होनेसे उसमें काले काले मण्डल धारे २ होजातेहैं, तथा तन्तुडोरे पंख और ऊनमें विषप्रयोग होनेसे यह ध्वंस होजातेहैं ॥ २३ ॥

लोहानाञ्च मणीनाञ्च मलपङ्कोपदिग्धता ।
प्रभावस्नेहगुरुता वर्णस्पर्शवधस्तथा ॥ २४ ॥

लोह और मणिमें विषप्रयोग होनेसे उनपर मैला पंक होजाताहै, तथा प्रभाव, स्नेह, गुरुता, वर्ण और स्पर्श इन सबका नाश होताहै ॥ २४ ॥

मुखस्य श्यामवर्णत्वं त्वग्भेदो जृम्भणं मुहुः ।
स्खलनं वेपथुः स्वेद आवेगो दिग्विलोकनम् ॥ २५ ॥

विष देनेवालेके मुखका शामवर्ण, त्वचाभेद, वारवार जँभाईलेना, स्खलित होना, पसीना आना, शरीर काँपना, वेग होना, इधर उधर दिशाओंको देखना ॥ २५ ॥

स्वकर्म्मणि स्वभूमौ स्यादनवस्थानमेव च ।
लिङ्गान्येतानि निपुणो लक्षयेद्विषदायिनाम् ॥ २६ ॥

अपने कार्यमें न लगना, अपने आसनमें न बैठसकना, वारवार उठना यह सब लक्षण विषदेनेवालोंके होते हैं इनको बुद्धिमान् देखले ॥ २६ ॥

ओषधानि च सर्वाणि पानं पानीयमेव च ।
तत्कल्पकैः समास्वाद्य प्राश्नीयाद्भोजनानि च ॥ २७ ॥

सम्पूर्ण औषधी पीनेके जल उनके बनानेवालोंको सवाकर फिर आप भोजन करै ॥ २७ ॥

प्रसाधनादि यत्किंचित्तत्सर्वं परिचारिकाः ।
उपनिन्युर्नरेन्द्राय सुपरीक्षितमुद्रितम् ॥ २८ ॥

और जितने ओढने, बिछौने, पहरने, धारण करनेकी सामग्रीहै वह सब राजाके सेवक परीक्षा करके मुहर करके राजाके निमित्त दें ॥ २८ ॥

परस्मादागतं यच्च तत्सर्वञ्च परीक्षयेत् ।
सदा स्वेभ्यः परेभ्यश्च रक्ष्यो राजाऽभिरक्षिभिः ॥ २९ ॥

जितनी वस्तु दूसरोंसे आईहो तो उन सबकी परीक्षा करै, रक्षा करनेवाले पुरुषोंको राजाकी सदा अपने और परायोंसे रक्षा करनी चाहिये ॥ २९ ॥

यानं वाहनमारोहेज्ज्ञातं ज्ञातोपपादितम् ।
अविज्ञातेन मार्गेण सङ्कटेन च न व्रजेत् ॥ ३० ॥

अच्छीप्रकार परीक्षा करके और उसके ज्ञाताओंसे परीक्षा कराकर सवारीपर बैठे विना जाने तथा सङ्कटके मार्गकी ओरको गमन न करै॥ ३०॥

दीक्षितादृष्टकर्म्माणमाप्तं वंशक्रमागतम् ।
संविभक्तञ्च कुर्वीत जनमासन्नवर्तिनम् ॥ ३१ ॥

भलीप्रकार शीलस्वभाव देखेहुए तथा कर्मोंमें परीक्षा कियेहुए वंशपरंपरासे आये हुए शोभित जनको अपने समीप रक्खे॥ ३१ ॥

अधार्मिकांश्च क्रूरांश्च दृष्टदोषान्निराकृतान् ।
परेभ्योऽभ्यागतांश्चैव दूरादेतान् विवर्ज्जयेत् ॥ ३२ ॥

अधर्मी, क्रूर, दोष देखकर तिरस्कार कियेहुए, शत्रुओंके समीपसे आये हुए इन पुरुषोंको दूरसेही त्यागदे ॥ ३२ ॥

महावातसमुद्भूतामपरीक्षितनाविकाम् ।
अन्यनौ प्रतिबद्धां वा नोपेयान्नावमातुराम् ॥ ३३ ॥

जिससमय पवन अधिक चलरहाहो, जब विना परीक्षा वाले नाविक खेनेले हों तथा दूसरेकी नौकाके समीप बँधी हुई नावमें आतुर होकर न चढे ३३

परितापिषु वासरेषु पश्यंस्तटप्लेखास्थितमात्मसैन्यचक्रम् ।
शुचिशोधितनक्रमीनजालंव्यवगाहेतजलंसुहृत्समेतः ॥ ३४ ॥

अधिक गरमीके दिनोंमें किनारेपर अपनी सेनाके लोगोंको नियत करके उनके देखतेहुए जलाशयको नाके और मच्छोंसे शोधितकर सुहृज्जनोंके संग नौकापर चढै ॥ ३४ ॥

गहनानि विवर्ज्जयन् विशुद्धं बहिरुद्यानवनं समभ्युपेयात् ।
विहरन्मधुरं वयोऽनुरूपं न च माद्येद्विषयोपभोगरागात्॥ ३५॥

गहनस्थानोंको त्यागकर विशुद्ध बगीचोंमें सैरके निमित्त गमन करै और अपनी वयके समान जनोंमें शनैः २ विहार करता हुआ विषय भोग रागरंगमें मत्त न होजाय ॥ ३५ ॥

सुविनीतसुवेगपृष्ठयानः सुखगम्यामुचिताञ्च लक्ष्यसिद्धये ।
सुपरीक्षितरक्षितान्तसीमां लघुकोष्ठस्तु मृगाटवीमुपेयात् ३६ ॥

जब मृगयाके निमित्त गमन करै तौ बडे शिक्षित शीघ्रगामी घोडे आदिपर चढे जो सुगमसे लेजाय और लक्ष्यकी सिद्धिमे चतुरहो, उसपर चढकर गमन करै और जिधर जाना है उसकी सीमाको रक्षित और परीक्षितकरके लघु सामर्थ्यके साथ मृगयाके निमित्त गमनकरै ॥ ३६ ॥

कारयेद्भवनशोधनमादौ मातुरन्तिकमपि प्रविविक्षुः ।
आप्तशस्त्र्यनुगतःप्रविशेच्च संकटेषु गहनेषु न तिष्ठेत् ॥ ३७ ॥

पहली पहल भवनका शोधन कराले चाहे अपनी माताहीके समीप जाना हो पीछे आप्त शस्त्रधारी पुरुषोंसे अनुगत हुआ प्रवेशकरै, संकट वा गहनस्थानमे स्थिति न करै ॥ ३७ ॥

पांशूत्कराकर्षिणि वाति वाते संसक्तधाराजलदे च मेघे ।
अत्यातपेचापितथाऽन्धकारेस्वस्थस्तुसन्नक्वचिदभ्युपेयात् ३८

जिस समय धूरी उठाये हुए पवन चलरही हो और मेघ मूशलधार जल वर्षताहो तथा बडी गरमी वा महाअन्धकार हो तौ स्वस्थतामे कभी ऐसे समय न गमन करै ॥ ३८ ॥

निर्गमे च प्रवेशे च राजमार्गे समन्ततः ।
प्रोत्सारितजनं गच्छेत्सम्यगाविष्कृतोन्नतिः ॥ ३९ ॥

जिससमय कहीसे आनाहो वा कही जाना हो तौ सब ओरसे राजा मार्गको स्वच्छ कर मनुष्योका गमन आगम न रोककर उन्नति (शान) के साथमे गमन करै ॥ ३९ ॥

यात्रोत्सवसमाजेषु जलसम्बाधशालिनः ।
प्रदेशान्नावगाहेत नातिवेलञ्च सम्पतेत् ॥ ४० ॥

यात्रा उत्सव समाजोंमें तथा जलके समागममें बहुत करके न जाय,

और न अधिक समय लगावै अथवा कुसमय भ्रमण न करै ॥ ४० ॥

निषेवितो वर्षवरैः कञ्चुकोष्णीषधारिभिः ।
अन्तःपुरे च विचरेत्कुब्जकैरातवामनैः ॥ ४१ ॥

दण्ड हाथमें लिये पगडी और वरदी पहरे कुबड़े किरात और बौने पुरुषोंसे सेवित हुआ रनिवासमें विचरण करै ॥ ४१ ॥

नीचैरन्तः पुरामात्याः शुचयश्चित्तवेदिनः ।
शस्त्राग्निविषवर्जं हि नर्म्मयेयुर्महीपतिम् ॥ ४२ ॥

अन्तःपुरके पवित्र चरित्रवाले तथा राजाके चित्तकी वृत्ति जाननेवाले आमात्यजन नीचे मुख कियेहुए शस्त्र अग्नि विषके चिन्होंसे रहित वे सब राजाको नम्रभाषणसे सम्बोधन करैं ॥ ४२ ॥

अन्तर्वंशिकसैन्यश्च सन्नद्धं साधुसम्मतम् ।
रक्षेदायुक्तकुशलमन्तःपुरगतं नृपम् ॥ ४३ ॥

अन्तःपुरवाली सेना तयार और सजीहुई अन्तःपुरमें प्राप्त हुए साधु सम्मत कार्यकुशल राजाकी सब प्रकारसे रक्षा करै ॥ ४३ ॥

आशीतिकाश्च पुरुषाः पञ्चाशत्काश्च योषितः ।
बुध्येरन्नवरोधानां शौचमागारिकाश्च ये ॥ ४४ ॥

अस्सी पुरुष और पचास स्त्री रनवासके कार्य कर्ता नियुक्त होने चाहियें तथा स्थान झाडने बुहारने वालेभी इन्हींमेंसे हों ॥ ४४ ॥

रूपाजीवाः स्त्रियः स्नाताः परिवर्त्तितवाससः ।
राजानमुपतिष्ठेयुर्विशुद्धस्रग्विभूषणः ॥ ४५ ॥

पवित्र माला गहने तथा धुलेवस्त्र पहरे हुए स्नान किये हुए रूपाजीवा स्त्रियें राजाके साथ रनवासमें रहैं ॥ ४५ ॥

कुहकैर्ज्जटिलैश्चैव मुण्डैश्चाभ्यन्तरो जनाः ।

संसर्गं न क्वचिद्गच्छेद्बाह्यैर्दासीजनैः सह ॥ ४६ ॥

अन्त पुरचारी जनोसे कुहक (धूर्त) जटाधारी, मुण्डित, तथा बाहर फिरनेवाली दासीजनोका ससर्ग कभी न होना चाहिये ॥ ४६ ॥

निर्गच्छेत्प्रविशेच्चापि सर्वत्राभ्यन्तरो जनः ।
विज्ञातद्रव्यसञ्चारी कारणेनोपलक्षितः ॥ ४७ ॥

भीतर रहनेवाले सर्वत्र आ जा सकते है, पर वहा जाय तो किसी चिन्हको लेकर जाय और उनके आने जानेका कारण विदित होना चाहिये ४७॥

न चानुजीविनं पश्येदकल्पं पृथिवीपतिः ।
अन्यत्रात्ययिकाद्रोगात् सर्वस्यैवातुरो गुरुः ॥ ४८ ॥

राजा अनुजीवियोको कभी वरदी वेशके विना न देखे, केवल रोगका समय छोड देना कारण कि आतुर तो सबसे विशेष है ॥ ४८ ॥

स्नातोऽनुलिप्तसुरभिः स्रग्वी रुचिरभूषणः ।
स्नातां विशुद्धवसनां गच्छेद्देवीं सुभूषणाम् ॥ ४९ ॥

राजा अपनी महारानीके समीपमे स्नानकर सुगंधि लगाय माला पहरे सुन्दर भूषण धारण किये गमन करै और देवीभी स्नानकर सुन्दर वस्त्र पहरे अच्छे भूषण धारण किये रहे ॥ ४९ ॥

न हि देवीगृहं गच्छेदात्मीयात्सन्निवेशनात् ।
अत्यर्थवल्लभोऽपीह विश्वासं स्त्रीषु न व्रजेत् ॥ ५० ॥

अपनी निजस्थिति करनेके स्थानसे पटरानीके स्थानको गमन न करै कैसीभी प्रियहो परन्तु सर्वथा स्त्रीका विश्वास न करै ॥ ५० ॥

देवीगृहगतं भ्राता भद्रसेनममारयत् ।
मातुः शय्यान्तरे लीनः कारूपञ्चौरसः सुतः ॥ ५१ ॥

देवीके घरमे प्राप्त हुए भद्रसेन राजाको उसके भ्राताने मारडाला और माताकी सेनमें छिपे हुए औरस पुत्रने अपने पिता कारूषको मारडाला ५१॥

लाजान् विषेण संयोज्य मधुनेति विलोभितः ।
देवी तु काशीराजेन्द्रं निजघान रहोगतम् ॥ ५२ ॥

खीलोंमें विष मिलाय मधुका लोभ देकर एकान्तमें उनकी रानीने स्वयं काशीराजको मारडाला ॥ ५२ ॥

विषदिग्धेन सौवीरं मेखलामणिना नृपम् ।
नूपुरेण च वैरन्त्यं जारूषं दर्पणेन च ॥ ५३ ॥

मेखलाकी माणिको विषसंयुक्त करके राजा सौवीरको उनकी स्त्रीने मारडाला नूपुरको विषसंयुक्त करके वैरन्त्यको और दर्पणसे जारूषकोमारा ५३ ॥

वेण्यां शस्त्रं समाधाय तथा चापि विदूरथम् ।
अहिवृत्तं परिहरेच्छत्रौ चापि प्रयोजयेत् ॥ ५४ ॥

अपने केशपाशमें शस्त्र छिपाकर राजा विदूरथको उनकी रानीने मारा इससे इनका अधिक विश्वास न करै, सर्पवृत्तको छोडकर केवल अपना आकार दिखायेरहै जिससे वे भयभीतरहैं ॥ ५४ ॥

यस्य दाराः सुगुप्ताः स्युः पुरुषैराप्तकारिभिः ।
सर्वभोगान्वितं तस्य हस्ते लोकद्वयं स्थितम् ॥ ५५ ॥

आप्त पुरुषों द्वारा जिसकी स्त्री रक्षित रहतीहै वही सब भोगोंसे युक्त है, और उसके हाथमें दोनों लोकहैं ॥ ५५ ॥

धर्म्ममिच्छन्नरपतिः सर्व्वान्दाराननुक्रमात् ।
गच्छेदनुनिशं नित्यं वाजीकरणबृंहितः ॥ ५६ ॥

वाजीकरण औषधियोंसे पुष्टहुआ राजा धर्मकी इच्छाकर क्रमसे सब स्त्रियोंके समीप गमन करै ॥ ५६ ॥

विचार्य्य कार्य्यावयवान् दिनक्षये विसृज्य लोकंप्रमदाहृतक्रियः।
आशस्त्रबन्धेनहिसाधुपाणिनास्वपेदसक्तं परमाप्तरक्षितः॥५७॥

सम्पूर्ण कार्यके विभागोका विचार करके सध्यासमय एक मात्र शस्त्र-वाले हाथसे अधिकारी पुरुषोको विदाकर प्रमदाजनोंसे सेवित हो महलोमें प्रवेशकरे और आप्त पुरुषोंसे रक्षितहुआ असक्तचित्तसे शयनकरे ॥ ५७ ॥

नयेन जाग्रत्यनिशं नरेश्वरे सुखं स्वपन्तीह निराधयः प्रजाः
प्रमत्तचित्तेस्वपितीहसंयमात्प्रजागरेणास्य जगत्प्रबुध्यते ॥५८॥

जो राजा निरन्तर नीतिसे जागताहै उसकी प्रजा सुखसे सोतीहै उनको कोई बाधा नही होती और जो राजा प्रमत्तचित्तसे सोजाताहै इसकी प्रजाको जागतेही सवेरा होजाताहै ॥ ५८ ॥

इतिस्म पूर्वं मुनयो बभाषिरे नृपस्य राज्यस्य च साधु लक्षणम् ।
तदेतदेवं परिपालयन्नयान्नरेश्वरःपालककल्पतां व्रजेत् ॥५९॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे पुत्ररक्षणमात्मरक्षणञ्च नाम सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

इसप्रकार राजा और राजाके लक्षण पूर्वकालमे मुनियोने कहे है सो इस प्रकारसे राजनीतिको पालन करताहुआ राजा प्रजापतिके समान होताहै५९॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे भाषाटीकाया पुत्ररक्षणमात्म रक्षणञ्च नाम सप्तम सर्ग ॥ ७ ॥

अष्टमः सर्गः ८.

उपेतः कोषदण्डाभ्यां सामात्यः सह मन्त्रिभिः ।
दुर्गस्थश्चिन्तयेत्साधु मण्डलं मण्डलाधिपः ॥ १ ॥

इसप्रकार कोष और दण्डसे युक्तहुआ मण्डलका अधिपति महाराजा अमात्य और मन्त्रियोंके सहित दुर्गमे स्थिति करके अच्छे राजमण्डलके विषयका विचार करे ॥ १ ॥

रथी विराजते राजा विशुद्धे मण्डले चरन् ।
अशुद्धे मण्डले सर्पन्शीर्यते रथचक्रवत् ॥ २ ॥

विशुद्धमण्डलमें विचरण करताहुआ राजा रथीको समान शोभित होताहै, अशुद्धमण्डलमें गमन करनेसे रथके पहियेकी समान विशीर्णहो जाताहै ॥ २ ॥

रोचते सर्वभूतेभ्यः शशीवाखण्डमण्डलः ।
सम्पूर्णमण्डलस्तस्माद्विजिगीषुः सदा भवेत् ॥ ३ ॥

अखण्डमण्डलवाले चन्द्रमाके समान वह सब प्राणियोंसे शोभित होता है इसकारण जीतनेकी इच्छावाला सम्पूर्णमण्डलसे युक्त रहै ॥ ३ ॥

अमात्यराष्ट्रदुर्गाणि कोषो दण्डश्च पञ्चमः ।
एताः प्रकृतयस्तज्ज्ञैर्विजिगीषोरुदाहृताः ॥ ४ ॥

अमात्य (मंत्री) राज्य, किला, कोष और पांचवाँ दण्ड यह राजनीतिके जाननेवालोंने जयकी इच्छावाले राजाकी प्रकृति कहीहै ॥ ४ ॥

एताः पञ्च तथा मित्रं सप्तमः पृथिवीपतिः ।
सप्तप्रकृतिकं राज्यमित्युवाच बृहस्पतिः ॥ ५ ॥

पांच यह छठेमित्र और सातवाँ राजा यह सप्तप्रकृतिक सातप्रकृतिवाला राज्य होताहै ऐसा बृहस्पतिने कहाहै ॥ ५ ॥

सम्पन्नस्तु प्रकृतिभिर्महोत्साहः कृतश्रमः ।
जेतुमेषणशीलश्च विजिगीषुरिति स्मृतः ॥ ६ ॥

इन प्रकृतियोंसे सम्पन्नहुआ उत्साहवान् श्रमी राजा जीतनेकी निरन्तर इच्छावाला विजेता कहलाताहै ॥ ६ ॥

कौलीनं वृद्धसेवित्वमुत्साहः स्थूललक्षिता ।
चित्तज्ञता बुद्धिमत्त्वं प्रागल्भ्यं सत्यवादिता ॥ ७ ॥

कुलीनता, वृद्धजनोंकी सेवा, उत्साह, स्थूललक्षिता, चित्तका ज्ञान, बुद्धिमत्ता, प्रगल्भता, सत्यवादिता ॥ ७ ॥

अदीर्घसूत्रताऽक्षौद्रं प्रश्रयः स्वप्रधानता ।
देशकालज्ञता दार्ढ्यं सर्वक्लेशसहिष्णुता ॥ ८ ॥

दीर्घसूत्रता नहोनी, अक्षुद्रता, नम्रता रखनी, अपनी प्रधानता रखनी, देशकालका ज्ञान होना, दृढता, सबक्लेशमें सहनशीलता ॥ ८ ॥

सर्वविज्ञानिता दाक्ष्यं सदा संवृतमन्त्रता ।
अविसंवादिता शौर्यं भक्तिज्ञत्वं कृतज्ञता ॥ ९ ॥

सब वस्तुको यथार्थ जानना, चतुराई, सदा अपने मन्त्रको गुप्तरखना, आशाका भग न करना, शूरता, भक्तिका जानना कि यह पुरुष मुझसे प्रेम रखता है, अथवा कृतज्ञता ॥ ९ ॥

शरणागतवात्सल्यमर्माशित्वमचापलम् ।
स्वकर्मदृष्टशास्त्रत्वं कृतित्वं दीर्घदर्शिता ॥ १० ॥

शरणमें आयेहुएकी पालना करनी, सहनशीलता, चचलता न करना, अपना कर्म शास्त्रानुसार करना, कार्यकुशलता, दूरदर्शिता ॥ १० ॥

जितश्रमित्वं धर्मित्वमक्रूरपरिवारता ।
प्रकृतिस्फीतता चेति विजिगीषुगुणाःस्मृताः ॥ ११ ॥

श्रमका सहना, धर्मात्मा होना, क्रूरजनोंसे रहित होना, प्रजाकी उन्नतिमें तत्परता यह जयशील राजाके गुण है ॥ ११ ॥

सर्वैर्गुणैर्विहीनोऽपि स राजा यः प्रतापवान् ।
प्रतापयुक्ता त्रस्यन्ति परान्सिहा मृगानिव ॥ १२ ॥

सम्पूर्ण गुणोसे हीन भी होपर जो प्रतापी है वही राजा है, प्रतापवान् राजाही शत्रुओंको नष्ट करसकता है जैसे सिह मृगोंको ॥ १२ ॥

प्रतापसिद्धो नृपतिः प्राप्नोति महती श्रियम् ।

तस्मादुत्थानयोगेन प्रतापं जनयेत्परम् ॥ १३ ॥

प्रतापसिद्ध राजा महालक्ष्मीको प्राप्त होता है, इससे चढाई करनेकी इच्छावाला प्रथम शत्रुको प्रताप दिखलावै ॥ १३ ॥

एकार्थाभिनिवेशित्वमविलक्षणमुच्यते ।

दारुणस्तु स्मृतः शत्रुर्विजिगीषुगुणान्वितः ॥ १४ ॥

एकही अर्थमें लगा हुआ जो दोनोंका प्रयोजन हो वह हानिकर अविलक्षण कहाता है गुणवान् जयशील राजा दारुण शत्रु कहागया है ॥ १४ ॥

लुब्धःक्रूरोऽलसोऽसत्यः प्रमादी भीरुरस्थिरः ।

मूढो योधाऽवमन्ता च सुखच्छेद्यो रिपुःस्मृतः ॥ १५ ॥

लोभी, क्रूर, आलसी, असत्यवादी, प्रमादी, भीरु, अस्थिर, मूढ, योधाओंका तिरस्कार करनेवाला शत्रु शीघ्रही सुखसे जीतलिया जाता है ॥ १५ ॥

अरिर्मित्रमरेर्मित्रं मित्रमित्रमतः परम् ।

तथारिमित्रमित्रञ्च विजिगीषोः पुरःस्थिताः ॥ १६ ॥

शत्रु और मित्र, शत्रुका मित्र, मित्रका मित्र, शत्रुके मित्रका मित्र, जयशील राजा इनको अपनी दृष्टिके सन्मुख रक्खै अर्थात् इनमें शत्रु, शत्रुका मित्र, शत्रुके मित्रका मित्र शत्रु हैं शेष मित्रहैं ॥ १६ ॥

पार्ष्णिग्राहः स्मृतः पश्चादाक्रन्दस्तदनन्तरम् ।

आसारावनयोश्चैव विजिगीषोस्तु मण्डलम् ॥ १७ ॥

पश्चात् पार्ष्णिग्राह उसके पीछे आक्रन्द 'निन्दापूर्वक योधाओंके पुकारनेवाले' यह दोनों ओर इन दोनोंका आसार भारढोनेकी सामग्री आदि यह जीतनेकी इच्छा करनेवालेका मण्डल है ॥ १७ ॥

अरेस्तु विजिगीषोस्तु मध्यमो भूम्यनन्तरः ।

अनुग्रहे संहतयोः समर्थो व्यस्तयोर्वधे ॥ १८ ॥

विजेता और शत्रु इनके मेल होने और अनुग्रहमें मध्यम समर्थ होताहै और इनकी फूट होनेपर इनके मारनेमें मध्यमभी ही समर्थ होता है॥ १८॥

मण्डलत्वे हि चैतेषामुदासीनो बलाधिकः ।
अनुग्रहे संहतानां ध्वस्तानाञ्च वधे प्रभुः ॥ १९ ॥

इनके मण्डल होनेमें अधिक बली उदासीनवृत्तिसे रहनेवाला इन मण्डलयुक्तोंके मेल होनेपर अनुग्रह करनेमें और विरुद्ध होनेपर इन आगे और विजेताके सहारमें समर्थ होताहै ॥ १९ ॥

मूलप्रकृतयस्त्वेताश्चतस्रः परिकीर्तिताः ।
आहैव मन्त्रकुशलश्चतुष्कं मण्डलं मयः ॥ २० ॥

यही चारों मूल प्रकृति कही गई है मन्त्रकुशल मयने इसीको मण्डल-चतुष्क कहा है ॥ २० ॥

विजिगीषुररिर्मित्रं पार्ष्णिग्राहोऽथ मध्यमः ।
उदासीनः पुलोमेन्द्रौ षट्कं मण्डलमूचतुः ॥ २१ ॥

विजेता नृपति, शत्रु, मित्र, पार्ष्णिग्राह (दोनों ओर वा पृष्ठभागके रक्षक) मध्यम और उदासीन इनका पुलोमा और इन्द्रने मण्डल षट्क कहाहै २१॥

उदासीनो मध्यमश्च विजिगीषोस्तु मण्डलम् ।
उशना मण्डलमिदं प्राह द्वादशराजकम् ॥ २२ ॥

उदासीन, मध्यमवृत्तिवाला विजेताका यह बारह राजा संयुक्त मण्डल शुक्राचार्यने कहा है ॥ २२ ॥

द्वादशानां नरेन्द्राणामरिमित्रे पृथक् पृथक् ।
षड्विंशत्कमिदं प्राहुस्ते च ते च पुनर्मयः ॥ २३ ॥

इस बारह राजोंमेंही शत्रु और मित्रोंके पृथक् पृथक् भेदसे मयने इसकोही २६ मण्डल मानाहै अर्थात् १२ शत्रु १२ मित्र २ उदासीन और मध्यम ॥ २३ ॥

जो जयशील राजाके आगे और जो पीछे चलनेवाले कहे हैं इनन्हींको मण्डलके जाननेवालोंने मण्डलदशक कहाहै ॥ २५ ॥

दशानां भूमिपालानाममात्याद्याः पृथक् पृथक् ।
मण्डलं मण्डलविदः षष्टिसंज्ञं प्रचक्षते ॥ ३६ ॥

इन दशराजाओंके अमात्यादि छः छः भेद पृथक् २ करनेसे मण्डल ज्ञाताओंने षष्टि ६० संज्ञक मण्डल कहाहै ॥ ३६ ॥

अरिमित्रे पुरो नेतुः पश्चिमे चेति पञ्चकम् ।
अमात्याद्याः पृथक् तेषां त्रिंशत्कं परिचक्षते ॥ ३७॥

शत्रु और मित्र यह नेताके आगे और पीछे पाँच अमात्यादि पंचक, यह मण्डलके जाननेवालोंने त्रिशत्कमण्डल कहाहै ॥ २७ ॥

अरेरप्येवमेवेति दृष्टं दृष्टिमतां वरैः ।
पञ्चकं मण्डलं योज्यं त्रिंशत्याश्च मनीषिभिः ॥ ३८॥

बुद्धिमानोंने शत्रुओंमें ऐसे सब भाव देखेहैं तब उनमें भी यह पाँचों मंत्री आदि युक्त करनेसे त्रिंशत्कमण्डल होताहै ऐसा बुद्धिमान् कहतेहैं ३८

द्वे एव प्रकृती न्याय्ये इत्युवाच पराशरः ।
अभियोक्ता प्रधानः स्यात्तथा न्याय्योऽभियुज्यते ॥ ३९॥

पराशरने कहा है कि, यथार्थमें दोही प्रकृति हैं. इनका अभियुक्त करनेवाला प्रधान कहाता है और वह न्यायसे युक्त होना चाहिये ॥ ३९ ॥

परस्पराभियोगेन विजिगीषोररेस्तथा ।
अरित्वे विजिगीषुत्वे एका प्रकृतिरिष्यते ॥ ४० ॥

शत्रु और जयशीलके परस्पर अभियोग होनेसे अरिपन और जयशीलतामें एकही प्रकृति कही है ॥ ४० ॥

इति प्रकारं बहुधा मण्डलं परिचक्षते ।

सर्वलोकप्रतीतं तु स्फुटं द्वादशराजकम् ॥ ४१ ॥

इसभाँति बहुतप्रकारका मण्डल कहागयाहै और सब लोकोंकी प्रतीतिमें तो बारह राजोंका मण्डल कहा है ॥ ४१ ॥

अष्टशाखं चतुर्मूलं षष्टिपत्रं द्वये स्थितम् ।
षट्पुष्पं त्रिफलं वृक्षं यो जानाति स नीतिवित् ॥४२॥

आठशाखा, चार मूल, साठपत्ते, दो प्रकारसे स्थित छः पुष्प, तीन फलवाले राजनीतिके वृक्षको जो भलीभाँतिसे जानता है वही नीतिका जाननेवाला है * ॥ ४२ ॥

पार्ष्णिग्राहस्तथाऽऽसारः शत्रुमित्रे प्रकीर्त्तिते ।
आक्रन्दोऽथ तदासारो विजिगीषोरुदाहृते ॥ ४३ ॥

पार्ष्णिग्राह इधर उधरके चलनेवाले, सेनाका फैलाव यह शत्रु मित्रमें है सेनाको निन्दित सम्बोन्धन करनेवाले और सेनाके फैलाव जयशीलके कहे हैं ॥ ४३ ॥

पुरो यायाद्विगृह्यैव मित्राभ्यां पश्चिमावरी ।
पश्चिमाविव पूर्वाभ्यामरिं तन्मित्रमेव च ॥ ४४ ॥

विग्रहवालेको आगेकरके चले, मित्रोंसे युक्त सेना पश्चिमभागमें, पश्चिमके समान पूर्वमें अरि और उसके मित्रको रक्खे ॥ ४४ ॥

अरिमित्रस्य मित्रन्तु कृतकृत्येन भूयसा ।
संस्तभ्योभयमित्रेण पश्चाद्गच्छेन्नरेश्वरः ॥ ४५ ॥

शत्रुके मित्रके मित्रको लिये स्वय बलादिसे कृतकृत्य होकर दोनों ओर मित्रमण्डलकी स्थिति किये पीछेसे राजा गमन करै ॥ ४५ ॥

* आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, दण्डनीति यह मूल हैं, दो प्रकृति अभियोज्य और अभियोजक इनमें स्थितिहै, धर्म, अर्थ, काम यह तीन फल हैं महाराजा, सेनापति, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, बल, सुहृद् यह आठ शाखा हैं छ गुणवाले मन्त्रोंके उपाय छ पुष्प हैं और ३२ राज गुण १६ प्रकारकी संधि १२ राजमण्डल इस वृक्षके पत्ते हैं ।

आक्रन्देनात्मना चैव पार्ष्णिग्राहं प्रपीडयेत् ।
आक्रन्देन तदासारमाक्रन्दासारभाजिना ॥ ४६ ॥

अपनी फट्कारसे पार्ष्णिग्राहोंको पीडित करै फैलीहुई सेनाके प्रधान उस आक्रन्दन फट्कारसे उत्साही होते हैं ॥ ४६ ॥

मित्रेणैवात्मना चैव कुर्वीतोद्धरणं रिपोः ।
मित्रेण हि समित्रेण रिपुमित्रं प्रपीडयेत् ॥ ४७ ॥

मित्रोंके द्वारा वा स्वयं शत्रुको उच्छेदकरे, ग्रहण करै मित्रद्वारा वा मित्रके मित्रद्वारा शत्रुके मित्रको पीडित करे ॥ ४७ ॥

अरिमित्रस्य मित्रस्य पीडनं पृथिवीपतिः ।
कुर्वीतोभयमित्रेण मित्रामित्रेण चैव हि ॥ ४८ ॥

राजा शत्रुके मित्रका वा शत्रुके मित्रके मित्रका पीडन अपने मित्र वा मित्रके मित्रसे करावे ॥ ४८ ॥

अनेन क्रमयोगेन विजिगीषुः सदोत्थितः ।
पीडयेदहितं शत्रुं मित्राणामन्तरन्तराम् ॥ ४९ ॥

इसक्रमसे सदा उन्नतिको प्राप्तहुआ राजा मित्रोंकी अन्तरासे अहितकारी शत्रुको पीडितकरै ॥ ४९ ॥

पीड्यमानो ह्युभयतः सदोद्युक्तैर्मनीषिभिः ।
रिपुरुच्छेदमायाति तद्वशे चावतिष्ठते ॥ ५० ॥

सदा उद्युक्तहुए बुद्धिमानोंसे दोनों ओरसे पीडितहुआ शत्रु नाशको प्राप्तहोताहै और जयशीलके वशमें होजाताहै ॥ ५० ॥

सर्वोपायेन कुर्वीत सामान्यं मित्रमात्मसात् ।
भवन्ति मित्रादुच्छिन्नाः सुखच्छेद्याहि शत्रवः ॥ ५१ ॥

सब उपायोंसे शत्रुके सामान्य मित्रोंको अपने वशीभूत करे मित्रवर्गोंसे रहित हुए शत्रु सुखसे नाश होसकतेहैं ॥ ५१ ॥

कारणेनैव जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ।
रिपवो येन जायन्ते कारणं तत्परित्यजेत् ॥ ५२ ॥

कारणसेही मित्र और शत्रु होजातेहै, जिसकारणसे शत्रु बने वह कारण त्यागदे ॥ ५२ ॥

प्राधान्येन हि सर्वत्र सर्वाः संसर्ज्जयेत्प्रजाः ।
तासां संसर्ज्जनाद्राजा सर्वाङ्गी श्रियमश्नुते ॥ ५३ ॥

प्रधानतासे सर्वत्र प्रजाओंको संगठित करे प्रजाओंकी हमदर्दीसे राजा सबप्रकार लक्ष्मीको प्राप्तहोताहै ॥ ५३ ॥

दूरेचरान्माण्डलिकान्स्थानदुर्गनिवासिनः ।
मित्रीकुर्वीत तत्प्राणाः साधयन्तीह मण्डलम् ॥ ५४ ॥

स्थान और दुर्गमे दूर रहनेवाले माण्डलिक राजोंको अपना मित्र दूतोद्वारा करे वही इसके प्राणरूप होकर इसकी मण्डलकी साधना करते है ५४

चलेत्तदोर्ज्जितबलो मध्यमो विजिगीषया ।
एकीभूयारिणा तिष्ठेदशक्तः सन्धिमाश्रमेत् ॥ ५५ ॥

उनसे अपना बल बढाकर जीतनेकी इच्छा करनेवाला मध्यमे चले और मित्रोंके साथ एकत्र हो शत्रुसे संग्रामकरे यदि अशक्त हो तो नम्रतासे सन्धि करले ॥ ५५ ॥

सहजः कार्यजश्चैव द्विविधः शत्रुरुच्यते ।
सहजः स्वकुलोत्पन्न इतरः कार्यजः स्मृतः ॥ ५६ ॥

एक स्वाभाविक, एक कार्यसे यह दोप्रकारके शत्रु होतेहै, स्वाभाविक शत्रु अपने कुलमें उत्पन्नहुआ होताहै, दूसरा कार्यसे उत्पन्न होताहै ॥ ५६ ॥

उच्छेदापचयौ काले पीडनं कर्षणन्तथा ।
इति विद्याविदः प्राहुः शत्रौ वृत्तं चतुर्विधम् ॥ ५७ ॥

उच्छेद, अपचय (हरणकरना) समयपर पीडा देनी और कर्षण यह वेद्वानोंने चारप्रकारकी शत्रुकी स्थिति कहीहै ॥ ५७ ॥

रेचनं कोषदण्डाभ्यां महामात्यवधस्तथा ।
एतत्कर्षणमित्याहुराचार्याः पीडनं परम् ॥ ५८ ॥

कोष और दण्डसे रहित करदेना, प्रधानमंत्रीको मारडालना, आचार्योंने इसका नाम कर्षण कहाहै इसके पीछे पीडनकरै ॥ ५८ ॥

समाश्रयविहीनो वा दुर्बलं वा समाश्रितः ।
शक्योऽरिः सम्पदा युक्त उच्छेत्तुं भूम्यनन्तरः॥५९॥

जो किलेसे विहीन हो अथवा दुर्बल किलेसे युक्तहो ऐसा शत्रु सम्पदा-युक्त भी उच्छेदित होसक्ताहै ॥ ५९ ॥

कर्षणं पीडनं काले कुर्वीताश्रयमानिनः ।
समाश्रयं दुर्गमाहुर्मित्रं वा साधुसम्मतम् ॥ ६० ॥

किलेमें स्थितहुएका समयपर कर्षण और पीडन करे समाश्रयही दुर्गमें रहनेका नामहै, और मित्रवर्गका अर्थ यह कि, साधुसम्मत हों ॥ ६० ॥

विभीषणस्य सोदर्यस्तथा सूर्यसुतस्य च ।
सर्वतन्त्रापहारित्वात्तथोच्छेद्यो निजो रिपुः ॥ ६१ ॥

विभीषणके सगे भ्राताका तथा सूर्यपुत्रके सगेभ्राता, युधिष्ठिरका सब-कार्य नीतिप्रयोग हरण होनेसे जैसे विनाश हुआ, इसीप्रकार सर्व तंत्रके हरणसे शत्रु सहजमेंही विनाश होसकताहै ॥ ६१ ॥

छिद्रं कर्म्म च वित्तञ्च विजानाति निजो रिपुः ।
दहत्यन्तर्गतश्चैव शुष्कवृक्षमिवानलः ॥ ६२ ॥

जो शत्रु अपना छिद्रकर्म और धन जानताहै वह सूखे वृक्षको जैसे भीतर भीतर अग्नि जलातीहै इसप्रकार जलता रहताहै ॥ ६२ ॥

वर्त्तते पक्षपातेन मित्रं यदुभयात्मकम् ।

वज्रीव हि त्रिशिरसं तदुच्छिन्द्यात्कृतत्वरः ॥ ६३ ॥

जो मित्र पक्षपातसे दोनोओर वर्तताहै उसको शीघ्रही नष्टकरदेना चाहिये जिसप्रकार इन्द्रने दैत्योंकी ओर भी मिलेहुए और इन्द्रका यज्ञभी करतेहुए विश्वरूपको मारडाला, इसने चुपकेसे इस यज्ञमे दैत्योको भी आहुति दी थी ॥ ६३ ॥

बलिना विगृहीतस्य द्विषतः कृच्छ्रवर्त्तिनः ।
कुर्वीतापचयं शत्रोरात्मोच्छित्तिविशङ्कया ॥ ६४ ॥

जब बलवान् शत्रुसे निग्रह उपस्थित हुआहो तो कष्टमे पडे शत्रुका अपने उच्छेदकी शकासे धनादि हरण करै, वा उसीको अपहरण करे ॥ ६४ ॥

यस्मिन्नुच्छिद्यमाने तु रिपुरन्यः प्रवर्त्तते ।
न तस्योच्छित्तिमन्विच्छेत्कुर्वीतेनं स्वगोचरम् ॥ ६५ ॥

जिसके उच्छेद करनेसे कोई दूसरा शत्रु उठ खडा हो तो उसका नाश न कर अपने नेत्रगोचर रक्खे अर्थात् आधीन रक्खे ॥ ६५ ॥

वंशागतो रिपुर्यस्तु विचलेद्दूरवग्रहः ।
तस्य संशमनायाशु तत्कुलीनं समुन्नयेत् ॥ ६६ ॥

जो शत्रु वशक्रमसे प्राप्तहुआ हो तो वह यदि विग्रह करनेको उपस्थितहो तो शीघ्र उसके शान्त करनेके निमित्त किसी कुलीनकोही सन्नद्धकरै ॥ ६६ ॥

विषं विषेण व्यथते वज्रं वज्रेण भिद्यते ।
गजेन्द्रो दृष्टसारेण गजेन्द्रेणेव वध्यते ॥ ६७ ॥

विषकी औषधी विषहीहै, वज्र वज्रसेही अर्थात् हीरा हीरेसेही तोडा जाता है, गजराज मत्तहाथियोसेही बँधाजाता है ॥ ६७ ॥

मत्स्यो मत्स्यं समादत्ते ज्ञातिर्ज्ञातिमसंशयम् ।
रावणोच्छित्तये रामो विभीषणमपूजयत् ॥ ६८ ॥

मत्स्यही मत्स्यकोग्रहणकर खाजाताहै, इसीप्रकार ज्ञाति ज्ञातिको खाजाती रावणके नाशके निमित्त रामचन्द्रने विभीषणका सत्कार किया था॥ ६८॥

यस्मिन्मण्डलसङ्क्षोभः कृते भवति कर्म्मणि ।
न तत्कुर्यात्तु मेधावी प्रकृतीरनुरञ्जयेत् ॥ ६९ ॥

जिस कर्मके करनेसे प्रजा मण्डलका संक्षोभहो, बुद्धिमान्को उचितहै के, उस कार्यको न करके प्रजाका चित्त प्रसन्न करे ॥ ६९ ॥

साम्ना दानेन मानेन प्रकृतीरनुरञ्जयेत् ।
आत्मीया भेददण्डाभ्यां परकीयाश्च दारयेत् ॥ ७० ॥

साम, दान और मानसे प्रकृतिको प्रसन्न करै, अपने भेद और दण्डोंके उपायोंसे शत्रुओंको विदीर्ण करै ॥ ७० ॥

आकीर्णं मण्डलं सर्व्वं मित्रैरिरिभिरेव च ।
सर्वः स्वार्थपरो लोकः कुतो मध्यस्थता क्वचित्॥ ७१ ॥

सबही मण्डल शत्रु और मित्रोंसे भराहुआ है, सभी लोग स्वार्थपर हैं, मध्यस्थता कहां है ॥ ७१ ॥

भोगप्राप्तं विकुर्वाणं मित्रमप्युपपीडयेत् ।
अत्यन्तं विकृतं हन्यात्स पापीयान् रिपुर्मतः ॥७२॥

यदि भोगको प्राप्तहुआ मित्रभी कुछ अपकार करे तो उसको भी पीडित करे जो अत्यन्त अपकारी हो तो उसको नष्ट करे कारण कि, वह पापी शत्रुरूप है ॥ ७२ ॥

अमित्राण्यपि कुर्व्वीत मित्राण्युपचयावहान् ।
अहिते वर्त्तमानानि मित्राण्यपि परित्यजेत् ॥ ७३ ॥

यदि अपना हित करते हों तो शत्रुकोभी मित्र करे, और यदि मित्र अहित कार्य करते हों तो उनको भी त्यागदे ॥ ७३ ॥

स बन्धुर्योऽनुबध्नाति हितेऽर्थे वा हितादरः ।

अनुरक्तं विरक्तं वा तन्मित्रमुपकारि यत् ॥ ७४ ॥

वही बन्धु है जो अपने प्रयोजनमें हितकारी हो तथा हितपूर्वक आदर करताहै, अनुरक्त होताहै विरक्त जो उपकार करै वही बन्धु है ॥ ७४ ॥

मित्रं विचार्य बहुशो ज्ञातदोषं परित्यजेत् ।
त्यजन्नभूतदोषं हि धर्म्मार्थावुपहन्ति हि ॥ ७५ ॥

मित्रके प्रति बहुतसा विचार करै जब उसमें दोष विदित होजायँ तब उसको त्यागदे यदि उस बहुत दोषवालेका त्याग न करै तो उसके धर्म और अर्थ नष्ट होते हैं ॥ ७५ ॥

स्वयं दोषगुणान्वेषी भवेत्सर्वत्र सर्वदा ।
स्वयं ज्ञातेषु दोषेषु शस्यते दण्डपातनम् ॥ ७६ ॥

और सर्वत्र सदा स्वयही गुण दोषोंकी परीक्षा करता रहै, स्वय दोष जानकर दण्ड देनेमें बडाई होती है ॥ ७६ ॥

न ह्यविज्ञाय तत्त्वेन कोपं कुर्यात्कदाचन ।
भुजङ्गमिव मन्यन्ते निर्दोषक्रोधनं जनाः ॥ ७७ ॥

विना ठीक अपराधके जाने कभी क्रोध न करे,जो राजा विना कारणके क्रोध करते हैं प्रजालोग उनको सर्पके समान जानते हैं ॥ ७७ ॥

मित्राणामन्तरं विद्यान्मध्यज्यायः कनीयसाम् ।
मध्यज्यायःकनीयांसि कर्म्माणि च पृथक्पृथक् ॥ ७८ ॥

मध्य, बडे और छोटे मित्रोंका अन्तर जानता रहै, इन मध्य, ज्येष्ठ और कनिष्ठोंके पृथक् पृथक् कार्योंको जानै ॥ ७८ ॥

न हि मिथ्याऽभियुञ्जीत शृणुयाच्चापि तद्विधम् ।
मित्रभेदन्तु ये कुर्यस्तान्सर्वांस्तु परित्यजेत् ॥ ७९ ॥

इनपर मिथ्या अभियोग न करै और इसप्रकारके मिथ्या अभियोगोंको भी न करै, जो मित्रका भेद करावे उन सबको त्याग देना चाहिये ॥७९॥

प्रायोगिकं मात्सरिकं माध्यस्थं पाक्षपातिकम् ।
सोपन्यासश्च जानीयाद्वचः संशयितं तथा ॥ ८० ॥

प्रयोग करनेवाले, मत्सरी, मध्यवृत्तिमें रहनेवाले, पक्षपाती, वाक्यका क्रम करनेवाले इनके शंकित वचनोंको जानना चाहिये ॥ ८० ॥

प्रकाशपक्षग्रहणं न कुर्यात्सुहृदां स्वयम् ।
अन्योन्यमत्सरश्चैषां स्वयमेवाशु धारयेत् ॥ ८१ ॥

सुहृदोंका पक्ष प्रकाशरूपसे स्वयं ग्रहण न करना चाहिये, और इनके परस्पर मत्सरको स्वयंही धारण करे ॥ ८१ ॥

कार्यस्य हि गरीयस्त्वान्नीचानामपि कालवित् ।
सतोऽपि दोषान् प्रच्छाद्य गुणानप्यसतो वदेत् ॥ ८२ ॥

कार्यके अधिक होनेसे समयका जाननेवाला नीचकेभी दोषोंको छिपाकर असत् भी गुणोंका उल्लेख करे चाहैं उसमें दोषभी हों पर अपने कार्यके निमित्त गुणोंका उल्लेख करै ॥ ८२ ॥

प्रायो मित्राणि कुर्वीत सर्वावस्थानि भूपतिः ।
बहुमित्रो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं रिपून् ॥ ८३ ॥

राजा सब अवस्थामें प्रायः मित्रही करताहै बहुत मित्रवालाही शत्रुओंको अपने वशमें करसकताहै ॥ ८३ ॥

न तत्र तिष्ठति भ्राता न पिताऽन्योऽपि वा जनः ।
पुंसामापत्प्रतीकारे सन्मित्रं यत्र तिष्ठति ॥ ८४ ॥

जहां पुरुषोंके आपत्ति आनेपर उसके दूरकरनेमें सन्मित्र उपस्थित रहताहै उस स्थानमें भ्राता, पिता वा और कोई जन उपस्थित नहीं होसकता ॥ ८४ ॥

अमित्राण्यवतो मित्रैर्न गृण्हीयाद्दृढव्रतैः ।
इति मण्डलवृत्तं हि मण्डलज्ञाः प्रचक्षते ॥ ८५ ॥

दृढमतिज्ञावाले मित्रोंसे अमित्रोंकी रक्षा करताहुआ उनका ग्रहण न करे इसप्रकारसे मण्डलके जाननेवालेने मण्डलवृत्त वर्णन कियाहै ॥ ८५ ॥

मित्रोदासीनरिपव एतन्मात्रं हि मण्डलम् ।
सम्यक्छोधनमेतेषामिति मण्डलशोधनम् ॥ ८६ ॥

मित्र उदासीन और शत्रु यही मण्डलहै इनकी भलीप्रकार खोज रखना मण्डलका शोध कहाताहै ॥ ८६ ॥

इति स्म राजा नयवर्त्मना व्रजन् समुद्यमी मण्डलशुद्धिमाचरन् ।
विराजते साधुविशुद्धमण्डलः शरच्छशीवप्रतिनन्दयन्प्रजाः ८७

इति का० नी० मण्डलयोनिमण्डलचरितश्चाष्टमःसर्गः ८

इसप्रकारसे राजा नीतिके मार्गमे चलताहुआ, उद्योगसे मण्डलकी शुद्धि करताहुआ महात्माओंके विशुद्धमण्डलमे विराजमान होताहै, शरद्के चन्द्रमाकी समान प्रजाको प्रसन्न करताहै ॥ ८७ ॥

इति कामन्दकीये नीतिसारे भाषाटीकायां मण्डलयोनिमण्डल चरितश्चाष्टम सर्ग ॥ ८ ॥

नवमः सर्गः ९

बलीयसाभियुक्तस्तु नृपोऽनन्यप्रतिक्रियः ।
आपन्नः सन्धिमन्विच्छेत्कुर्वाणः कालयापनाम् ॥ १ ॥

जब राजा बलीशत्रुसे आक्रान्त होजाय और कोई उपाय न सूझे तब विपद्ग्रस्त हो काल व्यतीत करता हुआ सन्धि करले ॥ १ ॥

कपाल उपहारश्च सन्तानः सङ्गतस्तथा ।
उपन्यासः प्रतीकारः संयोगः पुरुषान्तरः ॥ २ ॥

कपाल, उपहार, सन्तान सगत, उपन्यास, प्रतीकार, सयोग, पुरुषान्तर २

अदृष्टनर आदिष्ट आत्मामिष उपग्रहः ।
परिक्रयस्तथोच्छिन्नस्तथा च परिभूषणः ॥ ३ ॥

अदृष्टनर, आदिष्ट,आत्मामिष,उपग्रह,परिक्रय, उच्छिन्न, परिभूषण॥ ३॥

स्कन्धोपनेयः सन्धिश्च षोडशः परिकीर्त्तितः ।
इति षोडशकं प्राहुः सन्धिं सन्धिविचक्षणाः ॥ ४ ॥

और स्कन्धोपनेय सन्धि कार्य कुशलपुरुषोंने यह सोलह प्रकारकी संधिकही हैं४

कपालसन्धिर्विज्ञेयः केवलं समसन्धितः ।
सम्प्रदानाद्भवति य उपहारः स उच्यते ॥ ५ ॥

बराबरवालेसे मेलकरनेका नाम कपालसंधिहै, जो द्रव्यदेनेसे होती है यह उपहारसंधि कहातीहै ॥ ५ ॥

सन्तानसन्धिर्विज्ञेयो दारिकादानपूर्वकः ।
सद्भिः सङ्गतसन्धिस्तु मैत्रीपूर्व उदाहृतः ॥ ६ ॥

कन्यादान करनेसे संतानसंधि कहाती है, श्रेष्ठोंके साथ मित्रता करनेसे संगतसंधि होती है ॥ ६ ॥

यावदायुःप्रमाणस्तु समानार्थप्रयोजनः ।
सम्पत्तौ च विपत्तौ च कारणैर्यो न भिद्यते ॥ ७ ॥

जबतक जियेंगे तबतक तुल्य अर्थके प्रयोजन वाली सम्पत्ति विपत्तिमें जो किसी कारणसे भी नहीं टूटैगी ॥ ७ ॥

सङ्गतः सन्धिरेवैष प्रहृष्टत्वात्सुवर्णवत् ।
सोऽपरैः सन्धिकुशलैः काञ्चनः परिकीर्त्तितः ॥८॥

यह संगतसंधि अत्युत्तम होनेसे सुवर्णके समान है और दूसरे सन्धिके जाननेवालोंने इसको कांचनसंधि कहाहै ॥ ८ ॥

भव्यामेकार्थसंसिद्धिं समुद्दिश्य क्रियेत यः ।

स उपन्यासकुशलैरुपन्यास उदाहृतः ॥ ९ ॥

जो किसी श्रेष्ठ कार्यके सिद्धिके लिये संधि की जाती है, उसको उपन्याससज्ञाताओंने उपन्याससधि कहा है ॥ ९ ॥

मयास्योपकृतं पूर्वं ममाप्येष करिष्यति ।
इति यः क्रियते सन्धिः प्रतीकारः स उच्यते ॥ १० ॥

मैने पहले इसका उपकार किया है यहभी मेरा उपकार करेगा, इसके निमित्त जो संधि कीजाती है उसे प्रतीकारसंधि कहते है ॥ १० ॥

उपकारं करोम्यस्य ममाप्येष करिष्यति ।
अयञ्चापि प्रतीकारो रामसुग्रीवयोरिव ॥ ११ ॥

मै इसका उपकार करता हू यह भी मेरा उपकार करेगा राम सुग्रीवके समान यहभी प्रतीकारसंधि कहाती है ॥ ११ ॥

एकार्थां सम्यगुद्दिश्य क्रियां यत्राभिगच्छतः ।
स संहितप्रयाणस्तु सन्धिः संयोग उच्यते ॥ १२ ॥

एक अर्थका भलीप्रकारसे उद्देश करके जहा अच्छेप्रकार गमन करते हुए संधि होतीहै, वह सहितप्रयाणवाली संयोगसंधि कहाती है ॥ १२ ॥

आवयोर्योधमुख्याभ्यां मदर्थः साध्य इत्यपि ।
यस्मिन् पणः प्रक्रियते स सन्धिः पुरुषान्तरः ॥ १३ ॥

हम दोनोके मुख्य योधाओंसे हमारा प्रयोजन सिद्ध हो ऐसा जिसमे प्रण किया जाता है वह पुरुषान्तरसंधि है ॥ १३ ॥

त्वयैकेन मदीयार्थः सम्प्रसाध्यस्त्वसाविति ।
यत्र शत्रुः पणं कुर्यात्सोऽदृष्टपुरुषः स्मृतः ॥ १४ ॥

तुम इकेलेही इस मेरे प्रयोजनको भलीप्रकारसे सिद्ध करो जिसमे शत्रु ऐसा प्रण करे वह अदृष्टपुरुषसंधि है ॥ १४ ॥

यत्र भूम्येकदेशेन पणेन रिपुर्वर्जितः ।
सन्धीयते सन्धिविद्भिरादिष्टः सन्धिरुच्यते ॥ १५ ॥

जहाँ पृथ्वीका कुछ अंश देकर मेल किया जाताहै उसे संधिज्ञाताओंने आदिष्टसंधि कहाहै ॥ १५ ॥

स्वसैन्येन तु सन्धानमात्मामिष इति स्मृतः ।
क्रियते प्राणरक्षार्थं सर्वदानादुपग्रहः ॥ १६ ॥

अपनी सेनासे जो संधि की जाती है, वह आत्मामिषहै, और जो प्राणरक्षाके लिये सर्वस्व दान करना है वह उपग्रहसंधि है ॥ १६ ॥

कोषांशेनाथ कुप्येन सर्वकोषेण वा पुनः ।
शेषप्रकृतिरक्षार्थं परिक्रय उदाहृतः ॥ १७ ॥

जो कुछ कोशके अंशसे वा सब कोश देकर शेष प्रजाकी रक्षाके लिये संधि कीजाती है उसका नाम परिक्रय संधि कहा है ॥ १७ ॥

भुवां सारवतीनान्तु दानादुच्छिन्न उच्यते ।
सर्वभूम्युत्थितफलादानेन परिभूषणः ॥ १८ ॥

सारवाली उपजाऊ भूमिके देनेसे मेल करनेको उच्छिन्नसंधि कहतेहैं, पृथ्वीसे उत्पन्न सब अन्न फलादिके देनेसे परिभूषणसंधि कहाती है ॥ १८ ॥

परिच्छिन्नं फलं यत्र स्कन्धः स्कन्धेन दीयते ।
स्कन्धोपनेयं तं प्राहुः सन्धिं सन्धिविदोजनाः ॥ १९ ॥

जहां थोड़े फलादि थालीमें रख कन्धेपर लेजाकर भृत्यजन देतेहैं, संधि जाननेवालोंने उसको स्कन्धोपनेयसंधि कहाहै ॥ १९ ॥

परस्परोपकारश्च मैत्रं सम्बन्धजस्तथा ।
उपहारश्च विज्ञेयाश्चत्वारस्ते च सन्धयः ॥ २० ॥

परस्पर उपकार, मित्रता, सम्बन्ध और भेंट यह चार संधि विशेष रूपसे कही हैं ॥ २० ॥

एक एवोपहारस्तु सन्धिरेतन्मतं हि नः ।
उपहारस्य भेदास्तु सर्वेऽन्ये मैत्रवर्ज्जिताः ॥ २१ ॥

हमारे मतमें एक उपहारसंधिही श्रेष्ठ और सब उपहारके भेद हैं वे मित्रतामें वर्जित हे ॥ २१ ॥

अभियोक्ता बली यस्मादलब्ध्वा न निवर्त्तते ।
उपहाराद्दते तस्मात्सन्धिरन्यो न विद्यते ॥ २२ ॥

बली चढाई करनेवाला विना लोभके निवृत नही होता, उससे उपहारके सिवाय दूसरी सन्धि हैही नही ॥ २२ ॥

बालो वृद्धो दीर्घरोगस्तथा ज्ञातिबहिष्कृतः ।
भीरुको भीरुकजनो लुब्धो लुब्धजनस्तथा ॥ २३ ॥

बालक, बूढा, दीर्घकालका रोगी,जातिसे बाहर, डरपोक, दूसरेको भय उत्पन्न करनेवाला, लोभी, लुब्धजन ॥ २३ ॥

विरक्तप्रकृतिश्चैव विषयेष्वतिशक्तिमान् ।
अनेकचित्तमन्त्रस्तु देवब्राह्मणनिन्दकः ॥ २४ ॥

विरक्तस्वभाववाला, विषयोमे अतितत्पर, अनेक चित्तोंके साथ मन्त्र सम्मति करनेवाला, देवता और ब्राह्मणोंकी निन्दा करनेवाला ॥ २४ ॥

दैवोपहतकश्चैव दैवचिन्तक एव च ।
दुर्भिक्षव्यसनोपेतो बलव्यसन सङ्कुलः ॥ २५ ॥

तथा दैवसे हतहुआ, और प्रारब्धपरही भरोसा करनेवाला, दुर्भिक्षव्यसनमें लगाहुआ सेनाकी आपत्तिसे युक्त ॥ २५ ॥

अदेशस्थो बहुरिपुर्युक्तः कालेन यश्च न ।
सत्यधर्मव्यपेतश्च विंशतिः पुरुषा अमी ॥ २६ ॥

कुदेशवा दूसरेके देशमे स्थित, बहुत शत्रुवाला जो समयपर प्रतिज्ञाप

स्थित नहीं रहता, और सत्यधर्मसे रहित यह बीस प्रकारके पुरुषहैं ॥२६॥

एतैः सन्धिं न कुर्वीत विगृण्हीयाच्च केवलम् ।
एते विगृह्यमाना हि क्षिप्रं यान्ति रिपोर्वशम् ॥ २७ ॥

इनसे संधि न करै, केवल विग्रहही करै यह विग्रहको प्राप्त होकर शीघ्रही शत्रुके वशमें होजाते हैं ॥ २७ ॥

बालस्य ह्यप्रभावत्वान्न लोको योद्धुमिच्छति ।
योद्धु स्वमयशक्तस्य परार्थेकोहि युद्ध्यते ॥ २८ ॥

बालक तौ प्रभावशील नहींहोता इसकारण उससे कोई युद्धकीइच्छा नहीं करता जो स्वयं असमर्थ है दूसरेके निमित्त उससे कौन युद्धकरेगा ॥२८॥

उत्साहशक्तिहीनत्वाद्वृद्धो दीर्घामयस्तथा ।
स्वैरेव परिभूयेते द्वावप्येतावसंशयम् ॥ २९ ॥

वृद्ध और दीर्घरोगी उत्साह तथा शक्तिहीन होनेसे यह दोनों स्वयंही तिरस्कृत रहतेहैं ॥ २९ ॥

सुखोच्छेद्यस्तु भवति सर्वज्ञातिबहिष्कृतः ।
त एवैनं विनिघ्नन्ति ज्ञातयः स्वार्थसत्कृताः ॥३०॥

और सब जातियोंसे बाहर कियाहुआ सुखसे छेदन करनेके योग्य होताहै और वे ज्ञातिके लोग अपने स्वार्थके वश होकर स्वयंही इसको मारतेहैं ३०॥

भीरुर्युद्धपरित्यागात्स्वयमेवावसीदति ।
धीरोऽप्यवीरपुरुषैः संग्रामे तैर्विमुच्यते ॥ ३१ ॥

डरपोक युद्धके त्यागसे स्वयंही नष्ट होताहै, धीरपुरुष भी कायरपुरुषोंके साथ हो तो संग्राममें उनके सहित उसको निवृत्त होना पडताहै ३१॥

लुब्धस्यासंविभागित्वान्न युद्ध्यन्तेऽनुजीविनः ।
लुब्धानुजीवितैरेव दानभिन्नैर्निहन्यते ॥ ३२ ॥

लोभीके धन न देनेके कारण अनुजीवी युद्ध नही करते है, और वह लोभी दानके न करनेसे उन अनुजीवियोसेही मारदिया जाताहै ॥ ३२ ॥

सन्त्यज्यते प्रकृतिभिर्विरक्तप्रकृतिर्युधि ।
सुखाभियोज्यो भवति विषयेऽप्यतिसक्तिमान् ॥ ३३ ॥

और विरक्तप्रकृतिवाले राजाको युद्धमेही उसकी सेना त्याग देती है और विषयोमे अतिआसक्त पुरुष सुखसे जीतलिया जाताहै ॥ ३२ ॥

अनेकचित्तमन्त्रस्तु द्वेष्यो भवति मन्त्रिणाम् ।
अनवस्थितचित्तत्वात्कार्य्ये तैः स उपेक्ष्यते ॥ ३४ ॥

अनेकोके साथ सम्मतिवाला मंत्रियोसे दूषित होजाताहै और अनवस्थित [चचल] चित्त होनेसे कार्यमे वे मत्री इसकी उपेक्षा करदेतेहै ॥ ३४ ॥

सदा धर्म्मबलीयस्त्वाद्देवब्राह्मणनिन्दकाः ।
विशीर्य्यन्ते स्वयञ्चैव दैवोपहतकास्तथा ॥ ३५ ॥

और देवब्राह्मणकी निन्दा करनेवाला अधर्मी होनेसे निर्बल होताहै और धर्मही सदा बली है इसकारण वह पराजित होताहै और दैवसे हतहुए स्वयही नष्ट होजातेहै ॥ ३५ ॥

सम्पत्तेश्च विपत्तेश्च दैवमेव हि कारणम् ।
इति दैवपरो ध्यायन्नात्मना न विचेष्टते ॥ ३६ ॥

सम्पत्ति और विपत्तिमे दैवही कारणहै, इसप्रकार दैवका प्रधान माननेवाला स्वय कुछ चेष्टा नही करता ॥ ३६ ॥

दुर्भिक्षव्यसनी चैव स्वयमेवावसीदति ।
बलव्यसनसक्तस्य योद्धुं शक्तिर्न्न जायते ॥ ३७ ॥

दुर्भिक्ष और आपत्तिग्रस्त स्वयही नष्ट हुआहै, और सेनाके व्यसनको प्राप्तहुआ राजा युद्धकी शक्तिही नही रखता ॥ ३७ ॥

अदेशस्थो हि रिपुणा स्वल्पकेनापि हन्यते ।

ग्राहोऽल्पीयानपि जले गजेन्द्रमपकर्षति ॥ ३८ ॥

अदेशमें स्थित राजा छोटे शत्रुसेभी परास्त होजाताहै थोडे जलमें स्थित हुआ भी ग्राह हाथीको खैंचलेताहै ॥ ३८ ॥

बहुमित्रस्तु सन्त्रस्तः श्येनमध्ये कपोतवत् ।
येनैव गच्छति पथा तेनैवाशु विनश्यति ॥ ३९ ॥

बहुत शत्रुओंसे भयभीत हुआ राजा गृद्धोंके मध्यमें कबूतरकी समान जिस मार्गमें गमन करे उसीमें शीघ्र नष्ट होताहै ॥ ३९ ॥

अकालयुक्तसैन्यस्तु हन्यते कालयोधिना ।
कौशिकेन हतज्योतिर्निशीथ इव वायसः ॥ ४० ॥

अकालमें सेनाके उपयोग करनेवालेको समयपर युद्धकरनेवाला मारदेताहै, जैसे रातमें ज्योतिहत होजानेसे कौएको उल्लू मारतेहैं ॥ ४० ॥

सत्यधर्मव्यपेतेन न सन्दध्यात्कथञ्चन ।
स सन्धितोऽप्यसाधुत्वादचिराद्याति विक्रियाम् ॥ ४१ ॥

सत्य, धर्मसे रहितके साथ कभी सन्धि न करे, वह सन्धित होनेसे भी असाधुताके कारण शीघ्रही विकारको प्राप्त होताहै ॥ ४१ ॥

सत्यार्यधार्मिकानार्यभ्रातृसङ्घातवान् बली ।
अनेकविजयी चेति सन्धेयाः सप्त कीर्त्तिताः ॥ ४२ ॥

सत्यवादी, आर्य, श्रेष्ठ धर्मके अनुष्ठाता, अनार्य बन्धुओंसे युक्त, बलवान्, अनेकोंको जीतनेवाले यह सात प्रकारके पुरुष सन्धि करनेके योग्य हैं ४२

सत्यश्च पालयन्सत्यसन्धितो नेति विक्रियाम् ।
प्राणबाधेष्वपि व्यक्तमार्यो नो यात्यनार्यताम् ॥ ४३ ॥

सत्यसंधपुरुष सत्यका पालन करताहुआ कभी विकारको प्राप्त नहीं होता चाहै प्राणबाधाभी उपस्थित होजाय, पर आर्य्यपुरुष कभी अनार्यपनको प्राप्त नहीं होता ॥ ४३ ॥

धार्मिकस्याभियुक्तस्य सर्व एव हि युध्यते ।
प्रजानुरागधर्म्माच्च दुःखच्छेद्यो हि धार्मिकः ॥ ४४ ॥

धर्म्मात्मापर विपत्ति आनेसे सबही युद्ध करते हे प्रजाका अनुराग और धर्म होनेसे वह बडी कठिनाईसे जीता जाता है ॥ ४४ ॥

सन्धिः कार्योऽप्यनार्येण सम्प्राप्योत्सादयेद्धि सः ।
रेणुकायाः सुत इव मूलेष्वपि न तिष्ठति ॥ ४५ ॥

अनार्यके साथ भी सन्धि करे । कारण कि, वह प्राप्तकर सबही प्रदान करदेता है वह रेणुका पुत्र परशुरामके समान अपने मूलमें भी स्थिर नहीं रहता ॥ ४५ ॥

संघातवान्यथा वेणुर्निबिडः कण्टकैर्वृतः ।
न शक्यते समुच्छेत्तुं भ्रातृसङ्घातवांस्तथा ॥ ४६ ॥

जिसप्रकारसे वने मिलेहुए बाँस घनिष्ठ और काटोंसे युक्त होजाते हैं और वह अच्छेद्य होजाते हैं इसीप्रकार कुटुम्बी पुरुष सहजमें छेदन नहीं कियाजाता ॥ ४६ ॥

समाक्रान्तस्य बलिना सर्व्वयत्नवतोऽपि हि ।
हरिणस्येव सिंहेन शरणं नेह विद्यते ॥ ४७ ॥

सम्पूर्ण यत्न करनेवाला भी बली पुरुषोंसे आक्रान्त होकर सिंहसे घिरे हरिणकी समान शरणको प्राप्त नहीं करसकता ॥ ४७ ॥

ईषदायच्छमानो हि सिंहो मत्तमिव द्विपम् ।
हिनस्ति बलवांस्तस्मात्सन्धेयः शिवमिच्छता ॥ ४८ ॥

थोडासा छेडा हुआ भी सिंह मतवाले हाथीको मारदेता है इसकारण बलवानको न छेडै उससे सन्धि रक्खै ॥ ४८ ॥

बलिना सह योद्धव्यमिति नास्ति निदर्शनम् ।
प्रतिवातन्न हि घनः कदाचिदुपसर्पति ॥ ४९ ॥

बलिके साथ निर्बलको युद्ध करना चाहिये, ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं ;, कभी भी मेघ पवनके प्रतिकूल नहीं चलता है ॥ ४९ ॥

बलीयसि प्रणमतां काले विक्रमतामपि ।
सम्पदो नापसर्पन्ति प्रतीपमिव निम्नगाः ॥ ५० ॥

समयपर पराक्रम करनेवाले तथा नम्र होनेवाले बलवान् पुरुषकी सम्पत्ति कभी नहीं जाती जैसे नीचानकी ओर बहनेवाली नदियें कभी नीचानकी ओर आना नहीं छोडतीं ॥ ५० ॥

जमदग्नेः सुतस्येव सर्वः सर्वत्र सर्वदा ।
अनेकयुद्धजयिनः प्रतापादेव भुज्यते ॥ ५१ ॥

जमदग्निके पुत्र परशुरामकी समान सबही सर्वत्र सब जगह अनेक युद्ध के जीतनेवाले अपने प्रतापसेही भोग करते हैं ॥ ५१ ॥

अनेकयुद्धविजयी सन्धानं यस्य गच्छति ।
तत्प्रतापेन तस्याशु वशं गच्छन्ति शत्रवः ॥ ५२ ॥

अनेक युद्धोंके जीतनेवालेकी जिसके साथ संधि होजाती है उसके प्रतापसे शीघ्रही उसके शत्रु उसके वशीभूत होजाते हैं ॥ ५२ ॥

न जातु गच्छेद्विश्वासं सन्धितोऽपि हि बुद्धिमान् ।
अद्रोहसमयं कृत्वा वृत्रमिन्द्रः पुराऽवधीत् ॥ ५३ ॥

सन्धि करके भी बुद्धिमान् किसीका विश्वास न करै मैं फिर वैर न करूंगा यह कहकर भी इन्द्रने वृत्र असुरको मारडाला ॥ ५३ ॥

विकारं याति पुत्रो हि राज्यान्नीचः पिता तथा ।
तल्लोकवृत्तान्नृपतेरन्यद्वृत्तं प्रचक्षते ॥ ५४ ॥

१ जब एक समय वृत्रासुरका प्रताप अधिक बढा और वह इन्द्रलोकको तपसे जय करने लगा, और इन्द्रसे युद्धकी आकांक्षा की, तब इन्द्रने उसे विश्वास दिलाया कि, हम तुमसे शत्रुता न करेंगे पीछे उस तप करते हुएको अस्त्रसे संहार किया।

जिस वर्तावसे पुत्र निकृष्ट विकारी होजाता (विगडजाता) है तथा जिस वर्तावसे राजा 'पिता' नीच विकारी होजाता है राजाका वह बर्ताव लोकव्यवहारसे भिन्न कहाजाता है अर्थात् विरुद्ध है ॥ ५४ ॥

अभियुक्तो बलवता तिष्ठन्दुर्गे प्रयत्नवान् ।
तद्बलीयस्तराह्वानं कुर्वीतात्मविमुक्तये ॥ ५५ ॥

जब राजा बलवान्की चढाईसे अभियुक्त हो तो यत्नपूर्वक दुर्गमें स्थित रहे और अपने छुटकारेके निमित्त शत्रुसे अधिक बलीका आह्वान करे ५५ ॥

स्वोत्साहशक्तिमुद्वीक्ष्य विगृण्हीयान्महत्तरम् ।
केसरीव द्विपमिति भारद्वाजः प्रभाषते ॥ ५६ ॥

अपनी उत्साहशक्तिको देखकर महान् पुरुषके साथ विग्रह करे जिस प्रकार सिंह हाथीपर झपटता है यह भरद्वाजने कहा है ॥ ५६ ॥

एकोऽपि सिंहः साहस्रं यूथं मथ्नाति दन्तिनः ।
तस्मात्सिंह इवोदग्रमात्मानं वीक्ष्य सम्पतेत् ॥ ५७ ॥

एक सिंहभी सहस्रो हाथियोंके यूथको मथ डालता है इसकारण सिंहकी समान अपनेको उदग्र देखकर आक्रमण करे ॥ ५७ ॥

ज्यायांसं हि ससैन्यस्य बलाद्विक्रम्य निघ्नतः ।
प्रतापसिद्धौ सर्वत्र भवन्ति रिपवोऽपरे ॥ ५८ ॥

बलपूर्वक सेनाको लिये बडे शत्रुकोभी मारता हुआ प्रतापसे बढता है, प्रताप सिद्धिमें सर्वत्र दूसरे शत्रु होते हैं ॥ ५८ ॥

सन्धिमिच्छेत्समेनापि सन्दिग्धो विजयो युधि ।
न हि संशयितं कुर्यादित्युवाच बृहस्पतिः ॥ ५९ ॥

जो युद्धमें सन्देह हो तो समानके साथ भी सन्धि करे, सन्दिग्धकार्य न करे ऐसा बृहस्पतिने कहाहै ॥ ५९ ॥

तत्सम्प्रवृद्धेरतिवृद्धिकामः समेन सन्धानमिहोपगच्छेत् ।
अपक्वयोर्वा घटयोरवश्यमन्योन्यभेदीसमसन्निपातः ॥ ६० ॥

उसकी वृद्धिसे अपनी वृद्धिकी इच्छा करता हुआ समान पुरुषके साथ सँधि करे, यदि दोनों घडे कच्चे हों तो उनके परस्पर भेदसे अवश्य उनका नाश होजाताहै ॥ ६० ॥

नाशो भवति युद्धेन कदाचिदुभयोरपि ।
सुन्दोपसुन्दावन्योन्यं समवीर्यौ हतौ न किम् ॥ ६१ ॥

और कदाचित् युद्धमें दोनोंकाही नाश होजाताहै क्या युद्धमें सुन्द और उपसुन्द दोनोंही परस्पर नहीं मारेगये "यह दोनों भ्राता एक स्त्री पर मोहित होगये उसस्त्रीने कहा तुम दोनोंमें जो बली होगा उसे वरूंगी यह दोनों परस्पर युद्ध करते २ मरगये इसप्रकार मायासे दोनों अजेय निशाचर मारेगये" ॥ ६१ ॥

विहीनोऽपि सुसन्धोऽपि व्यसने रिपुरागतः ।
पतन्दुनोति हिमवत्तोयबिन्दुरिव क्षितौ ॥ ६२ ॥

जनोंसे विहीन तथा भलीप्रकार सन्धानको प्राप्त हुआ भी व्यसनमें प्राप्त होकर आयाहुआ शत्रु पृथ्वीमें पतित हुए जलबिन्दुके समान गिरकर दुःखी होताहै अथवा जैसे हिमबिन्दु पृथ्वीमें गिरकर शीर्ण होताहै तैसे वह राजा दुःखी होताहै ॥ ६२ ॥

न सन्धिमिच्छेद्धीनैश्च तत्र हेतुरसंशयः ।
तस्य विश्रम्भमालभ्य प्रहरेत्तं गतस्पृहः ॥ ६३ ॥

हीनपुरुषके साथ कभी सन्धि न करे इसमें सन्देह नहीं कि,उसके साथ विश्वासपूर्वक बातचीत करनेसे वह अवसर पाकर अवश्य प्रहार करैगा ६३

बलीयसाभिसन्धाय तं प्रविश्य प्रतापवान् ।
तथा साध्वनुगन्तव्यो यथा विश्रम्भमाप्नुयात् ॥ ६४ ॥

मुहुर्मुहुश्वाकुलितानितानि तस्मान्न विद्वानतिविग्रही स्यात्

अपना शरीर, बल, सुहृद्वर्ग और धन यह एक पलक्रमात्रमें होजाते हैं और वे सब वारंवार व्याकुल होते हैं इसकारण विद्वानको विग्रह नहीं करना चाहिये ॥ ७४ ॥

सुहृद्धनं तथा राज्यमात्मानं कीर्त्तिमेव च ।
युधि सन्देहदोलास्थं कोहि कुर्यादबालिशः ॥ ७५ ॥

अपने सुहृद्, धन, राज्य, आत्मा और कीर्त्ति यह युद्धकी तराजूमें स्थित होजाते हैं जाने किधरका पल्ला भारी होजाय तो ऐसी मूर्खताके कामको कौन करे ॥ ७५ ॥

साम्ना प्रदानेन विभेदनेन सन्तापयेत्साध्वभियुज्यमानः ।
सन्धित्सुरेवास्य चसैन्यचक्रंसीमान्तमायान्तमपेतसन्धिम् ७

चढाईवालेसे युक्त हुआ साम, दान और भेदसे शत्रुको सन्तापित करे और सन्धिकी इच्छावाला जबतक शत्रुकी सेना सीमापर न आस्थित तबतक सधिकी इच्छा करे और जब सीमापर आजाय तब सन्धि नहीं है॰

सुगुप्तिमाधाय सुसंहतेन बलेन धीरो विचरन्नरातिम् ।
सन्तापयेद्येन सुसम्प्रतप्तस्तप्ते न सन्तापमुपैति तप्तः ॥ ७७

अपनी सेनाके सहित रक्षामे स्थित होकर धैर्यवान् अपनी सेनाके स॰ त विचरण करता हुआ शत्रुको सन्तापित करे और स्वय सन्तप्त हो तो उसे सन्ताप देनेका उद्योग करे। कारण कि, सन्तप्तसे सतापित होकर दू॰ राभी सन्तापको प्राप्त होता है ॥ ७७ ॥

इति स्म सन्धि खलु सन्धिवित्तमा बभाषिरे पूर्वतरा महर्षयः ।
तदेतदेवं विजयन्नरेश्वरः समीक्ष्य कार्ये गुरु चेति तद्विधाः

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे सन्धिविकल्पो नाम
नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

न्धिके जाननेवाले पूर्वकालीन महर्षियोंने इसप्रकारसे सन्धिका विकथन किया है, सो राजा इसप्रकारसे देखभालकर विचारसे कार्य हुआ विजयको प्राप्तहोता है और इसप्रकारके ज्ञाता श्रेष्ठ होते हैं ॥७८॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे भाषाटीकायां सन्धिविकल्पो. नाम नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

दशमः सर्गः १०.

अमर्षोपगृहीतानां मन्युसन्तप्तचेतसाम् ।
परस्परापकारेण पुंसां भवति विग्रहः ॥ १ ॥

दोनोंओर क्रोधको ग्रहण किये हुए क्रोधसेही सन्तप्त चित्तवाले परस्पर ारको प्राप्तहुए पुरुषोंका विग्रह उपस्थित होता है ॥ १ ॥

आत्मनोऽभ्युदयाकाङ्क्षी पीड्यमानः परेण वा ।
देशकालबलोपेतः प्रारभेत हि विग्रहम् ॥ २ ॥

अपने अभ्युदयकी इच्छा करनेवाला, अथवा शत्रुसे पीडित हुआ छे देशकाल और सेनासे युक्त होकर विग्रह आरम्भ करै ॥ २ ॥

राज्यस्त्रीस्थानदेशानां यानस्य च धनस्य च ।
अपहारो मदो मानः पीडा वैषयिकी तथा ॥ ३ ॥

राज्य, स्त्री, स्थान, देश, देशको पीडित सवारी, धन इनका हरणकर ा, मद मान होना, करना ॥ ३ ॥

ज्ञानार्थधर्मशक्तीनां विघातो दैवमेव च ।
मित्रार्थश्चापमानश्च तथा बन्धुविनाशनम् ॥ ४ ॥

अपनी धर्मशक्तिके ज्ञानके निमित्त अथवा दैवके रुष्ट होनेसे, मित्रके मित्त, वा अपमान होनेसे तथा बन्धुविनाशके कारणसे ॥ ४ ॥

भूतानुग्रहविच्छेदस्तथा मण्डलदूषणम्।
एकार्थाभिनिवेशित्वमिति विग्रहयोनयः ॥ ५ ॥

प्राणियोंके अनुग्रहके बिगडनेसे, वा मण्डलके दूषित करनेसे तथा एक प्रयोजनमें दोनोंके लगनेसे विग्रह उपस्थित होता है ॥ ५ ॥

राज्यस्त्रीस्थानदेशानां-दानेन च मदेन च ।
विग्रहस्य तु युक्तिज्ञैरिति प्रशमनं स्मृतम् ॥ ६ ॥

युक्तिके जाननेवालोंने राज्य, स्त्री, स्थान और देशोंके निमित्त जो विग्रह उपस्थित हुआ है उसकी शान्ति उसके लौटादेनेसे कही है, इस प्रकारसे उसकी शान्ति करे ॥ ६ ॥

एतदेव तु विज्ञेयं स्वार्थधर्मविघातजे ।
विषयध्वंसजे शत्रोर्विषयप्रतिपीडनम् ॥ ७ ॥

यही बात अपने स्वार्थ और धर्मके विघात हुए विग्रहमें जानना, जिसने अपना देशध्वंस कियाहो उस शत्रुका देश पीडित करनेसे वह विग्रह शान्त होता है ॥ ७ ॥

यानापहारसम्भूते ज्ञानशक्तिविघातजे ।
समस्तदर्थश्वाङ्गेन क्षान्त्या चोपेक्षणेन च ॥ ८ ॥

जो सवारी आदिके हरणसे विग्रह उपस्थितहो वा ज्ञान और ज्ञानशक्तिके विघातसे उत्पन्न हुए विग्रहमे लेलीहुई वस्तुके फेर देनेमे ज्ञानशक्तिकी घातकी उपेक्षा करनेसे विग्रह शान्त होताहै वा दोनों प्रकारके विग्रह सहनेशीलतासे शान्त होजाते है ॥ ८ ॥

अधर्मद्रोहसंयुक्ते मित्रजात उपेक्षणम् ।
आत्मवान्मित्रवर्गं तु प्राणानपि परित्यजेत् ॥ ९ ॥

अधर्म द्रोहसे विग्रह होनेमें तथा मित्रके साथ किसीने बिगाड किया

हो तो वह अपेक्षासे शान्त होजाता है, परन्तु बुद्धिमान् मित्रवर्गके विरोधी के साथ विग्रह करके प्राणभी समर्पण करदे ॥ ९ ॥

अपमानात्तु सम्भूतं मानेन प्रशमं नयेत् ।
सामपूर्व उपायो वा प्रणामो वाभिमानजे ॥ १० ॥

जो अपमानसे विग्रह उपस्थित हुआहो उसको मान देकर शान्त करै जो अभिमानसे उत्पन्न हुआ हो उसको सामपूर्वक उपाय और प्रणामसे शान्त करै ॥ १० ॥

विग्रहं नाशयेद्धीरो बन्धुनाशसमुद्भवम् ।
येन पीडा न जायेत तादृशं सुविचक्षणः ॥ ११ ॥

जो विग्रह बन्धुके नाशसे उत्पन्न हुआहो इसमें बुद्धिमान् वह उपाय करै जिसमें शत्रुको घोर पीडा उपस्थित हो इसका यही उपाय है ॥ ११ ॥

कुर्यादर्थपरित्यागमेकार्थाभिनिवेशजे ।
धनापचारजाते तन्निरोधं न समाचरेत् ॥ १२ ॥

जो एकही प्रयोजनके निमित्त विग्रह उपस्थित हुआ हो उन दोनोंमेंसे एकको अपना प्रयोजन त्याग देना चाहिये जो धनके अपचारसे हुआ हो फिर उसका निरोध न करनेसे वह विग्रह शान्त होजाता है ॥ १२ ॥

कदाचिद्विग्रहे पुंसां सर्वनाशस्तु जायते ।
महाजनसमुत्पन्नं भेदेन प्रशमं नयेत् ॥ १३ ॥

कारण कि, विग्रह करनेमें पुरुषोंका कभी २ सर्वनाश होजाता है, और महाजनोंद्वारा उत्पन्न विग्रहको भेदसे शान्त करै ॥ १३ ॥

भूतानुग्रहविच्छेदजाते तत्र वदेत्प्रियम् ।
दैवमेव तु दैवोत्थे शमनं साधुसम्मतम् ॥ १४ ॥

जो प्राणियोंके अनुग्रहविच्छेदसे विग्रह हुआहो प्रियवचनसे उसको शांतकरै और जो दैवकोपसे विग्रह हुआ हो तो दैवकी प्रसन्नतासे उसे शान्तकरै १४॥

मण्डलक्षोभसम्भूतमुपायैः प्रशमं नयेत् ।
सापत्न्यं वास्तुजं स्त्रीजं वाऽज्ञातमपराधजम् ॥१५॥

जो मण्डलके क्षोभसे विग्रह हुआ हो तो उपायोंद्वारा उसे शान्त करै, सापत्नतासे उत्पन्न, वस्तुके निमित्तसे, स्त्रीके निमित्तसे वा अज्ञात तथा अपराधसे उत्पन्न ॥ १५ ॥

वैरप्रभेदनिपुणैर्वैरं पञ्चविधं स्मृतम् ।
जातं भूम्युपरोधेन तथा शक्तिविघातजम् ॥ १६ ॥

यह पाँच प्रकारके वैर वैरके भेद जाननेवालोंने कहे है जो भूमिहरण तथा शक्तिके विघातसे उत्पन्न हो ॥ १६ ॥

भूम्यनन्तरजातं तु मण्डलक्षोभजन्तथा ।
चतुर्विधं वैरजातं बहुदन्तीसुतोऽब्रवीत् ॥ १७ ॥

तथा दूसरी भूमियोंपर तथा मण्डलक्षोभके कारण उत्पन्न हुआहो यह चार प्रकारका वैर बहुदन्तीके पुत्रने कहा है ॥ १७ ॥

कुलापराधजे वैरे मन्यन्ते द्वे च मानवाः ।
किञ्चित्फलं निष्फलञ्च सन्दिग्धफलमेव च ॥१८॥

कुल और अपराधके कारण उत्पन्नहुए वैरोंके दो भेद मनुने मानेंहै, वा मनुष्योंके होते है कुछ फलवाले, निष्फल तथा सन्दिग्ध फलवाले॥१८॥

तदात्वे दोषजननमायत्याञ्चैव निष्फलम् ।
अपरिज्ञातवीर्येण दुष्टेन स्तम्भितोऽपि वा ॥ १९ ॥

उसकी प्राप्तिमें अर्थात् वर्तमानकालमें दोषोंके प्रगट करनेवाले और आनेवालेकी सामर्थ्यको जानकर वा दुष्टके बॅहकानेपर ॥ १९ ॥

परार्थं स्त्रीनिमित्तञ्च दीर्घकालं द्विजोत्तमैः ।
अकाले दैवयुक्तेन बलोद्धृतसखेन च ॥ २० ॥

दूसरेके निमित्त, स्त्रीके निमित्त, दीर्घकालतक श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे वैरसाधनेसे, अकालमें दैवयुक्त होनेसे, बलसे मित्रको उच्छिन्न करनेसे ॥ २० ॥

तदात्वे फलसंयुक्तमायत्यां फलवर्जितम् ।
आयत्यां फलसंयुक्तं तदात्वे निष्फलं तथा ॥ २१ ॥

वर्तमानमें फलकी प्राप्ति दीखनेसे, आगामिकालमें फलप्राप्ति न होनेमें वा आगामिकालमें फलकी प्राप्ति होनेमें और वर्तमानमें निष्फल ॥ २१ ॥

इतीमं षोडशविधं न कुर्यादेव विग्रहम् ।
तदात्वायतिसंशुद्धमारभेत विचक्षणः ॥ २२ ॥

इसप्रकार यह सोलहप्रकारके विग्रह न करने चाहिये, जो वर्तमान और आगामिकालमें शुद्धहो उसको बुद्धिमान् आरंभ करै ॥ २२ ॥

तदात्वायतिशुद्धानि सर्वकर्म्माणि चिन्तयेत् ।
तदात्वायतिसंशुद्धमातिष्ठन्नैव वाच्यताम् ॥ २३ ॥

वर्तमान और आगामिकालमें शुद्धफल देनेवाले सब कार्योंका आरंभ करै इन दोनोंकी शुद्धि विचारनेवालेकी निन्दा नहीं होती है ॥ २३ ॥

साधु लोकद्वयग्राहि विद्वान् कर्म समाचरेत् ।
परित्यजेदमुं लोकं नार्थलेशोपलोभितः ॥ २४ ॥

जो श्रेष्ठ और दोनोंलोकोंका हितकारी कर्म हो बुद्धिमान्को उसीका आरंभ करना चाहिये, और अर्थके लोभी बनकर केवल इसी लोकके उपयोगी कर्मको न करै ॥ २४ ॥

परलोकविरुद्धानि कुर्वाणं दूरतस्त्यजेत् ।
इत्यागमप्रमाणत्वात्साधुकल्याणमाचरेत् ॥ २५ ॥

परलोकके विरुद्धकर्मोंके करनेवालेको दूरसेही त्यागदे, इसप्रकार शास्त्रके प्रमाणसे साधुकल्याणकारी कर्म करै ॥ २५ ॥

यदा मन्येत मतिमान्हृष्टपुष्टं स्वकं बलम् ।
परस्य विपरीतञ्च तदा विग्रहमाचरेत् ॥ २६ ॥

जब बुद्धिमान् अपनी सेनाको हृष्ट पुष्ट देखै, और शत्रुकी इसके विपरीत देखै तब विग्रह करै ॥ २६ ॥

स्फीतं चाप्यनुरक्तञ्च यदा प्रकृतिमण्डलम् ।
परस्य विपरीतञ्च तदा विग्रहमाचरेत् ॥ २७ ॥

जब अपना प्रकृतिमण्डल भरापुरा और अनुरक्तहो और शत्रुका इसके विपरीतहो तब विग्रह करै ॥ २७ ॥

भूमिर्मित्रं हिरण्यञ्च विग्रहञ्च फलं त्रयम् ।
यदेतन्नियतं भावि तदा विग्रहमाचरेत् ॥ २८ ॥

भूमि, मित्र और सुवर्ण विग्रहके यह तीन फलहैं, जब यह तीन अवश्य मिलनेकी सभावनाहो तब विग्रह करै ॥ २८ ॥

गुरु वित्तं ततो मित्रं तस्माद्भूमिर्गरीयसी ।
भूमेर्विभूतयः सर्वास्ताभ्यो बन्धुसुहृद्गणाः ॥ २९ ॥

सब वस्तुओंसे धन, धनसे मित्र, उससे भूमि, भूमिसे ऐश्वर्य, उससे बन्धु और सुहृद्गण विशेषहै ॥ २९ ॥

सर्वसम्पत्समे शत्रावुपायान्निक्षिपेद्बुधः ।
उपायैरप्यतिव्यूढः समे दण्डोऽपि शस्यते ॥ ३० ॥

पंडितको उचितहै कि, सबप्रकारसे अपनी सम्पत्तिके समान शत्रुपरही अभिगमन करै, और अतिदुरूह उपायोसे वशीभूत करै कारण कि, बराबरवालेमें ही दण्डपातकी सराहनाहै ॥ ३० ॥

आगतं विग्रहं विद्वानुपायैः प्रशमन्नयेत् ।
विजयस्य ह्यनित्यत्वाद्रभसेन न सम्पतेत् ॥ ३१ ॥

विद्वान्को उचितहै कि, प्राप्तहुए उपायोंसे विग्रहको शान्तकरै, कारण कि विजयकी प्राप्ति अचल नहीं है, एकाएकी किसीके ऊपर प्रहार न करै॥ ३१॥

समाक्रान्तो बलवता काङ्क्षन्नभ्रंशिनीं श्रियम् ।
आश्रयेद्वैतसीं वृत्तिं न भौजङ्गीं कथञ्चन ॥ ३२ ॥

बलवान्से आक्रान्त हुआ अचल लक्ष्मीको प्राप्तकरता हुआ वेतके समान वृत्तिका आश्रय करै कि जैसे पवन आदिके वेग आनेसे वेत झुकजातेहैं सर्पकी वृत्ति (कि छूतेही फण उठाकर काटनेको उद्यत होताहै) का आश्रय कभी न करै ॥ ३२ ॥

क्रमाद्वैतसवृत्तिः सन्प्राप्नोति विपुलां श्रियम् ।
भुजङ्गवृत्तिराप्नोति वधमेव तु केवलम् ॥ ३३ ॥

क्रमसे वेतसम्बन्धी वृत्तिका आश्रय करनेवाला बड़ी लक्ष्मीको प्राप्त होताहै, और सर्पवृत्तिवाला केवल वधकोही प्राप्त होताहै ॥ ३३ ॥

मत्तप्रमत्तवत् स्थित्वा ग्रसेदुत्प्लुत्य पण्डितः ।
अपरिभ्रश्यमानं हि क्रमप्राप्ते मृगेन्द्रवत् ॥ ३४ ॥

मत्त और प्रमत्तके समान बाहरी दिखावसे स्थितहुआ कूदकर बुद्धिमान् आक्रमणकरै, जैसे कि सिंह ऐसा कूदकर प्रहार करताहै कि वह खाली नहीं जाता ॥ ३४ ॥

कौर्मं सङ्कोचमास्थाय प्रहारमपि मर्षयेत् ।
काले प्राप्ते तु मतिमानुत्तिष्ठेत्क्रूरसर्पवत् ॥ ३५ ॥

और कछुएके समान अंग संकोचकर शत्रुका प्रहारभी सहन करै, और बुद्धिमान् फिर समय देखकर क्रूरसर्पके समान उठै ॥ ३५ ॥

काले सहिष्णुर्गिरिवदसहिष्णुश्च वह्निवत् ।
स्कन्धेनापि वहेच्छत्रून्प्रियाणि समुदाहरन् ॥ ३६ ॥

समयपर पर्वतकेसमान सहनशील हो और अग्निकेसमान असहनशील

हो और समयपर प्रियवचन कहताहुआ कंधेपरभी शत्रुको उठावै ॥३६॥

प्रसादवृत्त्या हितलोकवृत्तया प्रविश्य शत्रोर्हृदयं निरन्तरम् ।
नयाग्रहस्तेनहिकालउच्छ्रितःप्रसह्यकुर्वीतकचग्रहंश्रियः॥ ३७॥

प्रसन्नताकी वृत्तिसे लोककी हितकारीवृत्तिसे शत्रुके हृदयमें निरन्तर प्रवेश करके समयपर नीतिके हाथोंसे बलात्कारसे उसकी लक्ष्मीके केशग्रहणकरै३७

कुलोद्गतं सत्यमुदारविक्रमं स्थिरं कृतज्ञं धृतिमन्तमूर्जितम् ।
अतीवदातारमुपेतवत्सलं सुदुःप्रसाध्यं प्रवदन्तिविद्विषम्॥ ३८॥

कुलसे प्राप्त सत्य और उदारविक्रमवाले, स्थिरमति, कृतज्ञ, बुद्धिमान् प्रभावशील, अतिदानी, शरणागतवत्सल शत्रु बडी कठिनाईसे वशीभूत होसकताहै ॥ ३८ ॥

असत्यता निष्ठुरता कृतज्ञता भयं प्रमादोऽलसता विषादिता ।
वृथाभिमानो ह्यतिदीर्घसूत्रतातथाङ्गनाक्षादिविनाशनंश्रियः ३९

असत्यता, निठुराई, अकृतज्ञता, भय, प्रमाद, आलस्य, विषाद, वृथा अभिमान, अतिदीर्घसूत्रता, तथा निरन्तर स्त्रीसमागम और पाशेका खेल यह लक्ष्मीके विनाश करनेवालेहै ॥ ३९ ॥

इति स्मदोषान्वितमाशुविद्विषंत्रिशक्तियुक्तोविजिगीषया व्रजेत् ।
अतोऽन्यथा साधुजनस्यसम्मतंकरोतिविघातमुपघातमात्मनः४०

इसप्रकारके दोषयुक्त राजापर जीतनेकी इच्छा करनेवाला तीन शक्ति-युक्त होकर चढाई करै, इससे अन्यथा साधुजनसम्मतपर चढाई करनेसे वह अपनाही घात करताहै ॥ ४० ॥

समन्वितो राज्यपदोन्निनीषया चरेक्षणैर्वीक्षितमण्डलक्रियः ।
इमंनृपोविग्रहमार्गमास्थितःस्थिरोद्यमःसम्प्रयतेतसिद्धये॥ ४१॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे विग्रहकल्पो नाम
दशमः सर्गः ॥ १० ॥

राज्यपदकी उन्नतिकी इच्छा करताहुआ अपने दूतोंसे मण्डलकी क्रिया देखनेवाला राजा इसप्रकार विग्रहके मार्गमें स्थितहुआ सिद्धिके निमित्त स्थिरतासे उद्यम करै ॥ ४१ ॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे भा०टी० विग्रहकल्पोनामदशमः सर्गः ॥१०॥

एकादशः सर्गः ११.

उत्कृष्टबलवीर्यस्य विजिगीषोर्जयैषिणः ।
गुणानुरक्तप्रकृतेर्यात्रायानमिति स्मृतम् ॥ १ ॥

बलवीर्यमें उत्कृष्ट, जीतनेकी इच्छावाले,जयशील,प्रकृतिके गुणोंमें अनुरक्त राजाकी यात्रा यान कहीहै ॥ १ ॥

विगृह्य सन्धाय तथा सम्भूयाथ प्रसङ्गतः ।
उपेक्षा चेति निपुणैर्यानं पञ्चविधं स्मृतम् ॥ २ ॥

लड़ाईके लिये, मिलकर, इकठ्ठा होकर और प्रसंगसे, उपेक्षासे यह पांच प्रकारका यान (चढाई) विद्वानोंने कहीहै ॥ २ ॥

विगृह्य याति हि यदा सर्वाञ्छत्रोर्गणान् बलात् ।
विगृह्ययानं यानज्ञास्तदाचार्याः प्रचक्षते ॥ ३ ॥

जब शत्रुओंके गणके ऊपर बलसे लड़ाई करके गमनकरे, उसको यानके जाननेवाले आचार्य विगृह्ययान कहते हैं ॥ ३ ॥

अरेर्मित्राणि सर्वाणि स्वमित्रैः सर्वतो बलात् ।
विगृह्य चाभिगमनं विगृह्यगमनं स्मृतम् ॥ ४ ॥

सम्पूर्ण शत्रुके मित्रोंको अपने सब मित्रोंके संग बलसे लड़ाकर शत्रुपर जो चढनाहै उसको विगृह्ययान कहते हैं ॥ ४ ॥

सन्धायान्यत्र यात्रायां पार्ष्णिग्राहेण शत्रुणा ।

सन्धायगमनं प्रोक्तं तज्जिगीषोः फलार्थिनः ॥ ५ ॥

अन्यपर चढाईके समय पीछेके शत्रुके साथ सधिकरके गमन करनेवालेको जीतनेके फलके अभिलाषी राजाका सधायगमन कहतेहे ॥ ५ ॥

एकीभूय यदेकत्र सामन्तैः साम्परायिकैः ।
शक्तिशौचयुतैर्यान सम्भूयगमनं हि तत् ॥ ६ ॥

जब एकराजा अपने सामत साथी उन राजाओके सग मिलकर गमन करै जो सामन्त अर्थ और बलसे युक्त हो उसे सम्भूयगमन कहतेहै ॥६॥

उभयोरपि यद्यानं द्वयोः प्रकृतिनाशने ।
सम्भूययानं तत्प्रोक्तं हनुमत्सूर्ययोरिव ॥ ७ ॥

अथवा जहा दो जने मिलकर शत्रुकी प्रजानाशके लिये चलते है उसका नामभी सम्भूययान है जिसप्रकार हनुमान् सूर्यके समीप साथ चलकर गमन करतेथे ॥ ७ ॥

अल्पसारानुपादाय प्रतिज्ञाय फलोदयम् ।
गम्यते यत्परञ्जेतुं सम्भूयगमनं हि तत् ॥ ८ ॥

थोडी सेनालिये फलके उदयकी इच्छा कर जो शत्रुके ऊपर चढाई है उसको सम्भूययान कहते है ॥ ८ ॥

अन्यत्र प्रस्थितः सङ्गादन्यत्रैव च गच्छति ।
प्रसङ्गयानं तत्प्रोक्तमत्र शल्यो निदर्शनम् ॥ ९ ॥

यदि अन्यत्र चढाईके लिये गमन करता हुआ अन्यत्रही चलाजाय तो यानके ज्ञाता मन्त्रीजन उसे प्रसगयान कहते हैं, जैसे शल्य एक जगह जाकर दूसरी जगहको चलागया ॥ ९ ॥

रिपुं यातस्य बलिनः सम्प्राप्याविष्कृतं फलम् ।
उपेक्ष्य तन्मित्रयानमुपेक्षायानमुच्यते ॥ १० ॥

जो बलवान् राजा शत्रुपर गमन करे और वहां विपरीत फल मिले तो उसकी उपेक्षा (छोडने) को उपेक्षायान कहते हैं ॥ १० ॥

निवातकवचान् हित्वा हिरण्यपुरवासिनः ।
उपेक्षायानमास्थाय निजघान धनञ्जयः ॥ ११ ॥

जिसप्रकार अर्जुनने हिरण्यपुरवासी जनोंको छोडकर अर्थात उनकी उपेक्षा करके निवातकवचोंका संहार किया यह कथा भारतमें प्रसिद्धहै ११॥

स्त्रियोऽथ पानं मृगया तथाऽक्षा दैवोपघातश्च बहुप्रकारः ।
इति प्रदिष्टं व्यसनं ह्यनेन समन्वितो यो व्यसनी स गम्यः १२

स्त्रियोंमें अनुरक्त, मद्यपान तथा मृगयामें आसक्त, पासे खेलनेवाले दैवोपघाती, प्रारब्धसे हीनता इत्यादि बहुत प्रकारके व्यसन हैं, इनसे जो युक्त है वही गमनके योग्य है अर्थात् उसपर चढाई करै ॥ १२ ॥

परस्परस्य सामर्थ्यविघातादासनं स्मृतम् ।
अरेश्च विजिगीषोश्च तत्पञ्चविधमुच्यते ॥ १३ ॥

परस्परकी सामर्थ्यके विघातसे जो युद्धसे बैठ रहनाहै कि, जिसमें शत्रु और जयशीलकी सामर्थ्य नष्ट होती हो उसको नष्ट न करके जो बैठ रहना है उसको आसन कहते हैं वह पांचप्रकारका है ॥ १३ ॥

अन्योन्याक्रान्तिकरणं निगृह्यासनमुच्यते ।
अरिं विगृह्यावस्थानं विगृह्यासनमुच्यते ॥ १४ ॥

परस्पर एक दूसरेके आक्रमणके निमित्त स्थित होनेको विगृह्यासन कहते हैं अथवा शत्रुसे विग्रह करके बैठ रहनेको विगृह्यासन कहते हैं १४

यदा दुर्गस्थितः शत्रुर्ग्रहीतुं नैव शक्यते ।
विगृह्यैनं तदासीत च्छित्त्वास्यासारवीवधान् ॥ १५ ॥

जिससमय दुर्गमें स्थितहुआ शत्रु ग्रहण न कियाजाय तब इससे विग्रह कर इसके सेना सामग्री धान्यादि और मार्गको छेदन कर स्थितहोरहै १५

विच्छिन्नवीवधासारं प्रक्षीणयवसैन्धवम् ।
विगृह्यमानः प्रकृतिं कालेनैव वशन्नयेत् ॥ १६ ॥

शत्रुके भारढोनेकी बॅहगी छकडे भुसई धनको नष्ट करके शत्रुकी प्रजामे जब राजाके सग अनवन तथा युद्ध देखे उससमय शत्रुको वशीभूत करै॥ १६॥

अरेश्च विजिगीषोश्च विग्रहे हीयमानयोः ।
सन्धाय यदवस्थानं सन्धायासनमुच्यते ॥ १७ ॥

जब शत्रु और जीतनेवाला दोनो युद्धमे हीन होजॉय उस समय मिलकर बैठ रहनेको सधायआसन कहते है ॥ १७ ॥

निवातकवचैः सार्द्धं रावणः शत्रुरावणः ।
ब्रह्माणमन्तरा कृत्वा सन्धायासनमास्थितः ॥ १८ ॥

जिसप्रकार शत्रुके रुवानेवाले रावणने निवातकवचोसे युद्धकर फिर ब्रह्माजीको बीचमें कर सन्धायआसनसे स्थिति की ॥ १८ ॥

उदासीने मध्यमे च समानप्रतिशङ्कया ।
एकीभूय समुत्थानं सम्भूयासनमुच्यते ॥ १९ ॥

उदासीन और मध्यवृत्तिवालेम अपनी समानताकी शकासे जो मिलकर स्थितहो समुत्थान करना है उसको सम्भूयआसन कहते है ॥१९॥

उभयारहिं वाञ्छेत विनाशमुभयोरपि ।
सम्भूयेन प्रतिव्यूहेदधिकं तत्त्वधर्मणा ॥ २० ॥

जब दोनोंही दोनोंके नाशकी इच्छा करतेहो तो धर्मका जाननेवाला सम्भूयासनमे स्थितहुआ सेनाको व्यूहितकरै ॥ २० ॥

यियासोरन्यमन्यत्र प्रसङ्गेनेह केनचित् ।
आसनं यत्तदर्थज्ञैः प्रसङ्गासनमुच्यते ॥ २१ ॥

अन्यस्थानमे गमनकी इच्छासे अन्यत्र गमन करके जो स्थिति कर रहे उसको प्रसगासन कहतेहे ॥ २१ ॥

आस्ते प्रेक्ष्यारिमधिकमुपेक्षासनमुच्यते ।
उपेक्षां कृतवानिन्द्रः पारिजातग्रहं प्रति ॥ २२ ॥

जो शत्रुको अधिक जानकर उसके बलके कारण उपेक्षा करके स्थितहो
रहे उसको उपेक्षासन कहते हैं । जैसे जब कृष्णचन्द्रने सत्यभामाके
मित्त स्वर्गसे कल्पवृक्ष हरण किया तब इन्द्रने अधिक बल जानकर उनके
थ युद्ध न किया उपेक्षा कर बैठरहा ॥ २२ ॥

उपेक्षितस्य चान्यैस्तु कारणेनेह केन चित् ।
आसनं रुक्मिण इव तदुपेक्षासनं स्मृतम् ॥ २३ ॥

वा किसी कारणसे दूसरोंसे उपेक्षित होनेसे रुक्मीके समान स्थितहो
इनका नाम उपेक्षासनहै । जिसप्रकार कृष्णसे युद्ध करने उपरान्त रुक्मी-
ने जब किसीने सहायता न दी तब वह उपेक्षाकर बैठरहा ॥ २३ ॥

बलिनोर्द्विषतोर्मध्ये वाचात्मानं समर्पयन् ।
द्वैधीभावेन वर्त्तेत काकाक्षिवदलक्षितः ॥ २४ ॥

बली शत्रुओंके मध्यमें वाणीसे अपनेको समर्पण करताहुआ काकके
नेत्रकी समान कभी किसीको कभी किसीको देखताहुआ द्वैधीभावसे वर्तै
कि किसीको प्रतीति न हो ॥ २४ ॥

यापयेद्यत्नमास्थाय सन्निकृष्टमरिं तयोः ।
उभयोरपि सम्पाते सेवेत बलवत्तरम् ॥ २५ ॥

उन दोनों शत्रुओंके समीप होनेपर यत्नसे स्थितहो समय बितावे और
जब दोनोंहीकी चढाईहो तो बलवान्का आश्रय करे ॥ २५ ॥

यदा द्वावपि नेच्छेतां संश्लेषं जातसंविदैः ।
तदोपगच्छेत्तच्छत्रुमधिकं वापि संश्रयेत् ॥ २६ ॥

और जब क्रोधके कारण वे दोनोंही मेलकी इच्छा न करैं तब उनके
शत्रुसे मेलकरे वा उनसे अधिकका आश्रय करे ॥ २६ ॥

द्वैधीभावो द्विधा प्रोक्तः स्वतन्त्रपरतन्त्रयोः ।
स्वतन्त्र उक्तो ह्यन्यस्तु यः स्यादुभयचेतनः ॥ २७ ॥

स्वतंत्र और परतंत्र और भेदसे दो प्रकारका द्वैधीभाव कहाहै, अपने आधीन स्वतंत्र और दूसरेके आश्रयको देखना परतंत्रहै ॥ २७ ॥

उच्छिद्यमानो बलिना निरुपायप्रतिक्रियः ।
कुलोद्भूतं सत्यमार्यमाश्रयेत बलोत्कटम् ॥ २८ ॥

जब शत्रु उच्छेद करनेको उद्यत हो और प्रतीकारका कोई उपाय नहो तो कुलमे वृत्त सत्यशील बलवान् आर्य्यपुरुषका आश्रय करे ॥ २८ ॥

तद्दर्शनोपास्तिकता नित्यं तद्भावभाविता ।
तत्कारिता प्रश्रयिता वृत्तं संश्रयिणः स्मृतम् ॥ २९ ॥

उसके दर्शनमे प्रीतिहोनी नित्य उसके भावमे भावित रहना, उसीके कार्यमे तत्परता यह आश्रितकी वृत्तिका लक्षणहै ॥ २९ ॥

आशिक्षितनयःसिंहो हन्तीमं केवलं बलात् ।
तञ्च धीरो नरस्तेषां शतानि मतिमाञ्जयेत् ॥ ३० ॥

नीतिको न सीखेहुए सिंह केवल बलसेही नष्ट करताहै, और शिक्षित धीरपुरुष अपनी नीतिसे उन सैकडोको मारताहै ॥ ३०

पश्यद्भिर्दूरतोऽपायान्सूपायप्रतिपत्तिभिः ।
भवन्ति हि फलायैव विद्वद्भिश्चिन्तिताःक्रियाः॥ ३१ ॥

दूरसेही विपत्तियोंको आताहुआ देखकर जो विद्वान् पहलेसेही उनकी प्रतिक्रियाको विचारतेहैं, तो वह उनकी विचारीहुई क्रिया फलवती होतीहै ३१॥

उपायपूर्व लिप्सेत कालं वीक्ष्य समुत्पतेत् ।
पश्चात्तापाय निर्दिष्टा विक्रमैकरसज्ञता ॥ ३२ ॥

उपायपूर्वकही किसी वस्तुकी इच्छाकरे और समय देखकर आक्रमण करे और केवल विक्रमहीकी रसज्ञता पश्चात्तापके निमित्त कहीगई है ॥ ३२॥

शक्याशक्यपरिच्छेदं कुर्याद्बुद्ध्या प्रसन्नया ।
केवलं दन्तभङ्गाय दन्तिनः शैलताडनम् ॥ ३३ ॥

अपनी निर्मल बुद्धिसे शक्य और अशक्यका परिच्छेद करना चाहिये जो बिना विचारे कियाजाय तो हाथीका पर्वतपर प्रहार केवल दांतोंके भङ्गकेही निमित्त होताहै ॥ २२ ॥

अशक्यारम्भवृत्तीनां कुतः क्लेशादृते फलम् ।
भवन्ति परितापिन्यो व्यक्तं कर्मविपत्तयः ॥ ३४ ॥

जो अशक्य होकर किसीकार्यका आरम्भ करते हैं, उनको क्लेशके सिवाय और क्या लाभहै, कर्मोंसे आईहुई विपत्ति परिताप देनेवाली होतीहै ३४

बुद्ध्या बोधानुगतया परीयात्सम्पदः पदम् ।
सुविशुद्धपदन्यासः पर्वताग्रमिवोदितम् ॥ ३५ ॥

ज्ञानसम्पन्न बुद्धिसे विचार करनेसे मनुष्य सम्पत्तिके पदको प्राप्तहोता है, जैसे समझकर चरण रखनेसे मनुष्य पर्वतके ऊपर पहुँचजाताहै ॥ ३५ ॥

दुरारोहं पदं राज्ञां सर्वलोकनमस्कृतम् ।
अल्पेनाप्यपचारेण ब्राह्मण्यमिव दुष्यति ॥ ३६ ॥

सब लोकोंके नमस्कार करनेयोग्य राजपदपर आरूढ होना बड़ा कठिनहै, वह थोडेहीसे अपचार(दुष्कर्म)से ब्राह्मणताकी समान दूषित होजाताहै ३६ ॥

प्रारब्धानि यथाशास्त्रं कार्याण्यासन्नबुद्धिभिः ।
वनानीव मनोहारि प्रयच्छन्त्यचिरात्फलम् ॥ ३७ ॥

जो कार्य शास्त्रके अनुसार बुद्धिके आसनपर स्थित होकर किये जाते हैं, वह मनोहर वनके समान होकर बहुत शीघ्र फल देनेवाले होतेहैं ॥ ३७ ॥

सम्यगारभ्यमानं हि कार्यं यद्यपि निष्फलम् ।
न तत्तथा तापयति यथा मोहसमीहितम् ॥ ३८ ॥

भलीप्रकार आरम्भ कियाहुआ कार्य यदि निष्फल भी होजाय तो वह इसप्रकार ताप नहीं देता जैसा मोहयुक्त होकर करनेमे ताप देता है ॥ ३८॥

यत्तु सम्यगुपक्रान्तं कार्यमेतद्विपर्ययम् ।
पुमांस्तन्नानुपाल्यो दैवान्तरितपौरुषः ॥ ३९ ॥

जो भलीप्रकारसे आरम्भ किया कार्य विपरीत होजाय तो पुरुषको उसमे ताना देना न चाहिये कारण कि, उस पुरुषार्थके विगाडनेमे दैव कारण है ॥ ३९ ॥

प्रयत्नस्तावदास्थेयः फलायामलबुद्धिना ।
अपर्वभङ्गनिपुणं शेषं दैवसमाश्रितम् ॥ ४० ॥

निर्मल बुद्धिसे फलके निमित्त प्रयत्न करना चाहिये, और यदि वह कुसमय भग होजाय तो उसमे दैवही कारण है ॥ ४० ॥

आत्मानञ्च परांश्चैव ज्ञात्वा धीरः समुत्पतेत् ।
एतदेव हि विज्ञानं यदात्मपरवेदनम् ॥ ४१ ॥

बुद्धिमान् अपने और पराये बलको देखकर उसपर प्रहारकरे, यही परम विज्ञान है जो अपने और पराये बलकी भलीभाँति परीक्षा होजाय ॥४१॥

निष्फलं क्लेशवहुलं सन्दिग्धफलमेव च ।
न कर्म कुर्यान्मतिमान्महावैरानुबन्धि च ॥ ४२ ॥

जो निष्फल वहुत क्लेश सम्पन्न तथा सदिग्ध फलवाला और विशेष वैरका अनुबन्धी हो, बुद्धिमान्को वह कर्म न करना चाहिये ॥ ४२ ॥

तदात्वायतिसंशुद्धं शुचि शुद्धक्रमागतम् ।
हितानुबन्धि च सदा कर्म सद्भिः प्रशस्यते ॥ ४३ ॥

जो वर्तमान और आगामिकालमे शुद्धहो तथा शुद्ध कर्मसे प्राप्त होनेवाला और हितका अनुबन्धी (हितकारी) हो बुद्धिमानोने सदा उसकी प्रशसा की है ॥ ४३ ॥

हितानुबन्धि यत्कार्यं गच्छेद्येन न वाच्यताम् ।
तस्मिन्कर्मणि सज्जेत तदात्वकटुकेऽपि हि ॥ ४४ ॥

हितानुबन्धी हितकारी जो कार्य है वह वही है जिसमें निन्दा नहीं होती, उसीकर्ममें लगे, चाहैं वर्तमानमें वह कटुही दीखै ॥ ४४ ॥

बुद्ध्यैवोपक्रमः श्रेयान्फलनिष्पत्तये सदा ।
क्वचित्कल्याणमित्रस्य शस्यते सिंहवृत्तिता ॥ ४५ ॥

फल प्राप्तिके लिये बुद्धिमान् बुद्धिसे विचार कर्यारम्भकरे, हां सिंहकी समान आक्रमण कहीं उसको शोभा देता है जिसके शुद्ध मित्र हों ॥४५॥

सहसोत्प्लुत्य दुष्टेभ्यो दुष्करं सम्पदर्ज्जनम् ।
उपायेन पदं मूर्ध्नि न्यस्यते मत्तहस्तिनाम् ॥ ४६ ॥

सहसा दुष्टोंसे उपद्रवको प्राप्त होनेसे उनपर चढकर सम्पत्तिका अर्जन करना कठिन है, और उपायसे तो मतवाले हाथियोंके मस्तकपर चरण रखदिया जाता है ॥ ४६ ॥

न किञ्चित्क्वचिदस्तीह वस्त्वसाध्यं विपश्चिताम् ।
अयोऽभेद्यमुपायेन द्रवतामुपनीयते ॥ ४७ ॥

बुद्धिमानोंको कोई वस्तुभी असाध्य नहीं है, लोहा अभेद्य होता है पर उपायसे वह भी गलजाता है ॥ ४७ ॥

वाह्यमानमयःखण्डं स्कन्धंनैवापि कृन्तति ।
तदल्पमपि धारावद्भवतीप्सितसिद्धये ॥ ४८ ॥

कन्धेपर लेजाया हुआ लोहभारभी कन्धेको नहीं करता और धारवाला वह थोडाभी मनोरथ सिद्धि (मारने) के निमित्त होता है ॥४८॥

लोकप्रसिद्धमेवैतद्वारि वह्नेर्नियामकम् ।
उपायोपगृहीतेन तेनैव परिशोष्यते ॥ ४९ ॥

मन्त्रिणः स्वार्थतात्पर्याद्दीर्घमिच्छन्ति विग्रहम् ।
मन्त्रिणां भोग्यतामेति दीर्घकार्याकुलो नृपः ॥ ६१ ॥

मन्त्री स्वार्थके तात्पर्यसे दीर्घ कालतक विग्रहकी इच्छा करते है, और निरन्तर कार्यमे आकुलहुआ राजा मन्त्रियोकेही भोगको प्राप्त होता है ६१

मनःप्रसादः श्रद्धा च तथा करणपाटवम् ।
सत्वायेत्थानसम्पच्च कर्म्मणां सिद्धिलक्षणम् ॥६२॥

मनमे प्रसन्नता, श्रद्धा, साधनमे चतुराई, सत्व, पराक्रमकी अधिकाई, सम्पत्तिका आगमन, यह कर्म सिद्धिके लक्षण है ॥ ६२ ॥

लघूत्थानान्यविघ्नानि सम्भवत्साधनानि च ।
कथयन्ति पुरः सिद्धि कारणान्येव कर्म्मणाम् ॥६३॥

जिसमे लघु उत्थान आरम्भसे विघ्न न हो, थोडे साधनोमे सिद्ध हो उन कारणोसे कर्मकी होनेवाली सिद्धि कहीहै ॥ ६२ ॥

नावर्त्तयेन्मुहुर्मन्त्रं संरक्षेत्तत्परिस्तुवन् ।
अरक्षमाणं मन्त्रं हि भिनत्त्यात्मपरम्पराम् ॥ ६४ ॥

वारवार मन्त्रका उच्चारण न करे उसकी पलट पलट न करताहुआ बडाई करे कारण कि, अरक्षितहुआमन्त्र अपनी परम्पराको नष्टकरदेताहै ॥६४॥

मदः प्रमादः कामश्च सुप्तप्रलपितानि च ।
भिन्दन्ति मन्त्रंप्रच्छन्नाःकामिन्यश्चमतास्तथा॥६५॥

मद प्रमाद (असावधानी) काम, अधिक सोना, प्रलाप, यह मन्त्रको भेद कर देते है, तथा स्त्रियाकी सम्मतिसेभी मन्त्रभेद होजाता है ॥६५॥

निस्तम्भे निर्गवाक्षे च निर्भेद्येऽन्तरसंश्रये ।
प्रासादोपर्यरण्ये वा मन्त्रयेताविभावितः ॥ ६६ ॥

जिस स्थानमे स्तम्भोकी आड न हो, झरोखे न हों, कोई आ न सकता

हो, दुर्भेद्यहो, अन्तरमें कोई वस्तु न हो, ऐसे स्थानमें महलके ऊपर वा निर्जन वनमें व्याकुलता रहित चित्तसे मन्त्र सम्मति करै ॥ ६६ ॥

द्वादशेति मनुः प्राह षोडशेति बृहस्पतिः।
उशना विंशतिरिति मन्त्रिणां मन्त्रमण्डलम् ॥ ६७ ॥

मनुजीने बारह मन्त्रियोंका, बृहस्पतिने छःका और शुक्रने बीसमन्त्रियोंका, मन्त्रिमण्डल कहाहै ॥ ६७ ॥

यथासम्भवमित्यन्ये तत्प्रविश्य यथाविधि।
मन्त्रयेताहितमनाः कार्यसिद्धिविवृद्धये ॥ ६८ ॥

दूसरोंका मत है इनमें जितने मन्त्री प्राप्त होजायँ उतने करै उनके साथ यथाविधि प्रवेश करके कार्यकी सिद्धि और वृद्धिके लिये सावधान मनसे विचार करै ॥ ६८ ॥

अकथ्यानि तु कार्याणि सम्प्रधार्य पुनः पुनः।
प्रविशेत्स्वहितान्वेषी मतमेषां पृथक् पृथक् ॥ ६९ ॥

नहीं कथन किये कार्योंको प्रथम वारंवार सोचकर हितकी इच्छावाला इन मंत्रियोंके मतको पृथक् २ जानकर उसका निश्चयकरै ॥ ६९ ॥

महापक्षो यथाशास्त्रं दृष्टकर्म्मा हितः सुधीः।
यद्ब्रूयाच्च मतारूढस्तत्तत्साधु समाचरेत् ॥ ७० ॥

जिस कार्यमें बहुतोंकी सम्मति हो जो शास्त्रानुसारहै जो कर्म देखाहुआ हो हितकारी हो जिसको शास्त्रज्ञाताओंने कहा हो बुद्धिमान् उसको जानकर भलीप्रकार उसका अनुष्ठानकरै ॥ ७० ॥

नातीयात्कार्यकालं हि कृत्वा मन्त्रविनिश्चयम्।
अतिक्रान्तं तु तं भूयो यथायोगं प्रकल्पयेत् ॥ ७१ ॥

मंत्रका निश्चयकर फिर उसके समयको बुद्धिमान् व्यतीत न करै, और जो उसका समय बीतजाय तो उसके विषयमें फिर सम्मति करै ॥ ७१ ॥

अन्तःपालांस्तु कुर्वीत मित्राण्याटविकांस्तथा ।
जलस्थलानि मार्गांश्च विद्यात्स्वबलसिद्धये ॥ ५ ॥

मित्र तथा जगलके रहनेवालोंको अपने अन्तःपुरका रक्षक नियत करे, अपनी सेनाकी सिद्धिके लिये जल और स्थलके मार्गोंको जाने ॥ ५ ॥

नाविज्ञातः पुरं शत्रोः प्रविशेच्च न संसदि ।
कालमीक्षेत कार्यार्थमनुज्ञातश्च निष्पतेत् ॥ ६ ॥

विनाजानेहुए शत्रुके पुर वा सभामें प्रवेश न करे कार्यकी इच्छावाला समयको परखे, काल देखकर आक्रमण करे ॥ ६ ॥

सारवत्ताञ्च राष्ट्रस्य दुर्गन्तद्गुप्तिमेव च ।
छिद्रं शत्रोर्विजानीयात्कोपमित्रबलानि च ॥ ७ ॥

राज्यकी सारवत्ता किला और उस किलेकी रक्षा, कोष, मित्र, बल और शत्रुका छिद्र यह सब जाने ॥ ७ ॥

उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु यथोक्तं शासनं वदेत् ।
रागापरागौ जानीयात्प्रकृतीनाञ्च भर्त्तरि ॥ ८ ॥

शत्रुओंके उद्यत होनेपरभी यथोक्त अपने शासनको कहना चाहिये और प्रजाकी स्वामीपर प्रीति और विराग जाने ॥ ८ ॥

कृत्यपक्षस्य चोपायं कुर्यादनतिलक्षितः ।
पृच्छमानोऽपि न ब्रूयात्स्वस्वामिप्रकृतिच्युतिम् ॥ ९ ॥

जिसपक्षका उपायकरनाहो विनाजाने उसको करे, और अपने स्वामीकी प्रजाकी हीनताको पूंछा हुआभी नकहै ॥ ९ ॥

ब्रूयात्प्रसूतया वाचा सर्वं वेद भवानिति ॥ १० ॥

और कोमलवाणीसे कहै कि, आप सब जानतेहै ॥ १० ॥

फलेन नाम्ना द्रव्येण कर्मणा च महीयसा ।

कुर्याच्चतुर्विधं स्तोत्रं पक्षयोरुभयोरपि ॥ ११ ॥

ल नाम द्रव्य और बडेकर्म इन चारबातोंसे दोनों पक्षोंका चारप्रकार-
ोत्र (प्रशंसायुक्त प्रबन्ध) करै ॥ ११ ॥

विद्याशिल्पोपदेशेन संश्लिष्योभयवेतनैः ।
कृत्यपक्षश्च जानीयात्तद्भर्तुश्च विचेष्टितम् ॥ १२ ॥

वेद्या और शिल्पके उपदेशसे दोनोंओर वेतनसे संयुक्त हुआ, कर्तव्य-
और उस स्वामीकी चेष्टाको जानै ॥ १२ ॥

तीर्थाश्रमाश्रयस्थाने शास्त्रविज्ञानहेतुना ।
तपस्विव्यञ्जनोपेतैः स्वचरैः सह संवसेत् ॥ १३ ॥

तीर्थ,आश्रम, आश्रयस्थानमें शास्त्रविज्ञानके हेतुसे तपस्वियोंके समान
किये अपने दूतोंके साथ निवास करै ॥ १३ ॥

सन्तापं कुलमैश्वर्यं त्यागमुत्थानसौष्ठवम् ।
अक्षुद्रतां भद्रताञ्च भर्त्तुर्भेद्येषु दर्शयेत् ॥ १४ ॥

सन्ताप, कुल, ऐश्वर्य, त्याग, उन्नतिकी श्रेष्ठता, अक्षुद्रता और श्रेष्ठता
र्मीके शत्रुओंमें दिखावै ॥ १४ ॥

सहेतानिष्टवचनं कामक्रोधञ्च वर्जयेत् ।
नान्यैः शयीत भावं स्वं रक्षेद्विद्यात्परस्य च ॥ १५ ॥

उसके अनिष्ट वचनभी सहै, काम और क्रोधको वर्जितकरै, दूसरोंके
ाथ न सोवै, अपने भावकी रक्षा करताहुआ दूसरेका भाव जानै ॥१५॥

काले व्रजति मेधावी न खिद्येतात्मसिद्धये ।
क्षिप्यमाणश्च बुध्येत कालं नानार्थलोभनैः ॥ १६ ॥

समयपर बुद्धिमान् गमन करै आत्मसिद्धिके लिये खेद न करै और अनेक
ाकारके लुभानेसे व्यतीत होतेहुए समयको जानै ॥ १६ ॥

एतेष्वहःसु गच्छत्सु न तत्र पृथिवीपतेः ।
पश्यति व्यसनं किञ्चित्स्वयं वा कर्तुमिच्छति ॥ १७॥

इन दिनोंके जानेसे कोई राजाका विकार न देखसकै न जो स्वय करनेकी इच्छा हो उसको कोई जानै ॥ १७ ॥

स्वान्तप्रकोपमथवा विनेतुं नीतिवित्तमः ।
सस्यादेः संग्रहं कर्तुं स्वदुर्गे दुर्गसत्क्रियाम् ॥ १८ ॥

नीतिका जाननेवाला अपने भीतरी क्रोधको दूर करताहुआ सस्य धान्यके सग्रह करनेको अपने दुर्ग किलेका सस्कार करै ॥ १८ ॥

स्वपक्षाभ्युदयाकाङ्क्षी देशकालावुदीक्षते ।
तत्र यात्री स्वयं चित्तमाश्वास्यैव समीहते ॥ १९ ॥

अपने पक्षके उदयकी इच्छावाला देशकालमे उदयको देखताहै, वह यात्राकी इच्छावाला स्वय अपने चित्तको आश्वासन करके चेष्टा करताहै १९॥

यात्राकालक्षयार्थी वा तत्र चायं विलम्बते ।
काले विक्षिप्यमाणे तु तर्कयेदिति पण्डितः ॥ २० ॥

और यात्राके समयका क्षयकारक उसमे विलम्ब करताहै, कालके व्यतीत होनेपर चतुरको विचारना चाहिये, देर होनेका क्या कारणहै ॥२०॥

कार्यकालविपत्तिश्च व्यक्तां ज्ञात्वा विनिष्पतेत् ।
तिष्ठन्वार्त्ताविशेषार्थान्भर्तुः सर्वान्निवेदयेत् ॥ २१ ॥

कार्य और कालकी विपत्तिको स्पष्ट जानकर आक्रमण करै और सब बात जाननेवाले स्थितरहै, पीछे अपने स्वामीसे सब निवेदन करै ॥ २१ ॥

रिपोः शत्रुपरिच्छेदः सुहृद्बन्धुविभेदनम् ।
दुर्गकोषबलज्ञानं कृत्यपक्षोपसंग्रहः ॥ २२ ॥

शत्रुको, शत्रुके विनाशको जानै उसके सुहृद्बधुओंका भेद, दुर्ग, कोष

और बलका ज्ञान, अपने कार्य कर्तव्यके करनेवालोंका संग्रह ॥ २२ ॥

राष्ट्राव्यपेतपालानामात्मसात्करणं तथा ।
युद्धापसारभूज्ञानं दूतकर्मेति कथ्यते ॥ २३ ॥

राजाके पालकोंको अपने अधीन करना, युद्ध और पलायनकी भूमिका ज्ञान यह सब दूतके कर्म हैं ॥ २३ ॥

दूतेनैव नरेन्द्रस्तु कुर्वीतारिविकर्षणम् ।
स्वपक्षे च विजानीयात्परदूतविचेष्टितम् ॥ २४ ॥

दूतकेही द्वारा राजा शत्रुका आकर्षण करै और अपने पक्षमें शत्रुके दूतकी चेष्टा जानै ॥ २४ ॥

तर्केङ्गितज्ञः स्मृतिमान्मृदुर्लघुपरिक्रमः ।
क्लेशायाससहो दक्षश्चरः स्यात्प्रतिपत्तिमान् ॥ २५ ॥

र्क और चेष्टाका जाननेवाला, स्मृतिवाला, शीघ्रपराक्रमी, क्लेश और मका सहनेवाला, चतुरता, काल बुद्धि उपार्जन करनेवाला दूत होना १ ॥ २५ ॥

तपस्विलिङ्गिनो धूर्त्ताः पण्यशिल्पोपजीविकाः ।
चराश्चरेयुः परितः पिबन्तो जगतां मतम् ॥ २६ ॥

तपस्वियोंका वेश धारण कियेहुए धूर्त व्यापार और शिलपसे आजीवि-ले दूत सबओर जगत्का समाचार लेते हुए विचरण करै ॥ २६ ॥

निर्गच्छेयुर्विशेयुश्च सर्ववार्त्ताविदोऽन्वहम् ।
चराः सकाशान्नृपतेश्चक्षुर्दूरतरं हि ते ॥ २७ ॥

सब वार्ताके जाननेवाले दूत प्रतिदिन राजभवनमें आवैं जावैं, कारण है, दूत राजाकी दूरकी आंखें हैं ॥ २७ ॥

सूक्ष्मं सूत्रप्रचारेण पश्येद्वै विधिचेष्टितम् ।

स्वपन्नपि च जागर्त्ति चारचक्षुर्महीपतिः ॥ २८ ॥

अति सूक्ष्मसूत्रके प्रचारवाले छिद्रसेभी सब विधान और चेष्टा जाने, दूतरूप नेत्रोवाला राजा सोताहुआ भी जागता है ॥ २८ ॥

विवस्वानिव तेजोभिर्नभस्वानिव चेष्टितैः ।
राजा चरैर्जगत्कृत्स्नं व्याप्नुयाल्लोकसम्मतैः ॥ २९ ॥

तेजोसे सूर्यके समान, चेष्टाओंसे पवनकी समान, राजा लोकसम्मत दूतोंसे सब जगत्को व्याप्त करले ॥ २९ ॥

चारचक्षुर्नरेन्द्रः स्यात्सम्पतेत्तेन भूयसा ।
अनेनासम्पतन्मौढ्यात्पतत्यन्धःसमेऽपि हि ॥ ३० ॥

जो राजा दूतरूप आँखोवाला होता है, उसपर बडा सम्पात होनेसे वशता होती है जो मूर्खतासे इसपर चढाई करताहै, वह समता होनेपर अन्धेकी समान गिरता है ॥ ३० ॥

सर्वसम्पत्समुदयं सर्वावस्थाविचेष्टितम् ।
चरेण द्विषतां विद्यात्तद्देशप्रार्थनानि च ॥ ३१ ॥

सम्पूर्ण सम्पत्तिसे उदित सम्पूर्ण अवस्थामे चेष्टावाला दूतके द्वाराही शत्रुके देशकी प्रार्थनाको जाने ॥ ३१ ॥

प्रकाशश्चाप्रकाशश्च चरस्तु द्विविधः स्मृतः ।
अप्रकाशोऽयमुद्दिष्टः प्रकाशो दूत उच्यते ॥ ३२ ॥

एक गुप्त एक प्रगट दो प्रकारके दूत होतेहै अप्रकाशका वर्णन करचुके अब प्रकाशका वर्णन करते है ॥ ३२ ॥

चरेण प्रचरेद्राजा सूत्रेणर्त्विगिवाध्वरे ।
दूते सन्धानमायाते चरचर्या प्रतिष्ठिता ॥ ३३ ॥

राजा दूतके सत्यकथनानुसार विचरण करे वा कार्य करे, जैसे ऋत्विक्

ूत्रअनुसार यज्ञका कार्य करता है; दूतकेही सन्निधि होनेसे दूतकी क्रिया ातिष्ठित होती है ॥ ३३ ॥

तीक्ष्णः प्रव्रजितश्चैव सत्री विषद एव च ।
एते ज्ञेयास्तु सञ्चाराः सर्वे नान्योन्यवेदिनः ॥ ३४ ॥

ीक्ष्णप्रकृति संन्यासी यज्ञकर्ता विषदेनेवाला यह संचरण करनेवाले नको परस्पर कोई नहीं जानसकता ॥ ३४ ॥

संस्थानवत्यः संस्थाश्च कार्याः कार्यप्रसिद्धये ।
तिष्ठेयुः पार्श्वसञ्चाराः परिचर्यापवादिनः ॥ ३५ ॥

कार्य अकार्यकी सिद्धिके लिये स्थितिकी मर्यादा करनी चाहिये और ेवाके बहानेसे वे राजाके समीप भी स्थिति करैं ॥ ३५ ॥

बालः कृषीवलो लिङ्गी भिक्षुकोऽध्यापकस्तथा ।
संस्थाः स्युश्चारसंस्थित्यै दत्तदायाःशुभाशयाः॥ ३६ ॥

बालक, किसान, वनचारी, भिक्षुक, अध्यापक, यह दूतोंके वेशकी ्दाहै, इन कार्योंको करतेहुए शुभ आशयवाले वृत्तिका भोग करैं॥ ३६॥

स्वपक्षे परपक्षे च यावान्कश्चिद्धयवस्थितः ।
सर्वस्मिंस्तत्र सञ्चारास्तिष्ठेयुश्चित्तवेदिनः ॥ ३७ ॥

पने पक्ष और परपक्षमें जो कोई जिसप्रकार स्थित है, चित्तके जान- दूत सब प्रकारसे उसमें स्थित हो ॥ ३७ ॥

स्वपक्षे परपक्षे च यो न वेद चिकीर्षितम् ।
जाग्रन्नपि सुषुप्तोऽसौ न भूयः प्रतिबुद्ध्यते ॥ ३८ ॥

ो अपने और दूसरेके पक्षकी करनेकी इच्छाको नहीं जानता वह राजा ा हुआभी सोता है, और फिर नहीं जागता है ॥ ३८ ॥

कारणाकारणक्रुद्धान्बुध्येत स्वपरिग्रहे ।

पापानकारणक्रुद्धांस्तूष्णीं दण्डेन साधयेत् ॥ ३९ ॥

अपने कुटुम्बियोंके कारण और अकारणसे उत्पन्नहुए क्रोधको जाने,
विनाकारणसेही उत्पन्नहुए पापी है उनको दण्डसे चुपकेही साधनकरै॥ ३९

ये तु कारणतः क्रुद्धास्तान्वशीकृत्य संवसेत् ।
शमयेद्दानमानाभ्यां छिद्रञ्च परिपूरयेत् ॥ ४० ॥

और जो कारणवश क्रोधित हुए है, उनको उपायसे वश कर उनके स
स्थिति करै, दान मानसे उनका क्रोध शान्तकर छिद्रको पूर्ण करै ॥ ४०

अणुनापि प्रविश्यारि छिद्रेण बलवत्तरम् ।
निःशेषं मज्जयेद्राष्ट्रं पानपात्रमिवोदकम् ॥ ४१ ॥

बलवान् शत्रुके थोडेसे छिद्रमेभी प्रवेशकर सब राज्यको नष्ट करस
ताहै, जैसे पानपात्रमे थोडा २ जल भरकर उसको डुबा देताहै ॥४१

जडमूकान्धबधिरछद्मानः पण्डकास्तथा ।
किराता वामनाःकुब्जास्तद्विधा ये च कारकाः ॥४२

जड, मूक, अन्धे, बहरे, पण्ढ, किरात, बौने, कुबडे तथा और
इसप्रकारके कार्य करनेवालेहै ॥ ४२ ॥

भिक्षुकाश्चारणा दास्यो नानाकार्यकलाविदः ।
अन्तःपुरगतां वार्त्तामाहरेयुरलक्षिताः ॥ ४३ ॥

भिक्षुक, चारण, दास,अनेक कार्य और कलाके जाननेवाले, अन्त पुर
वातें विना किसीके जानें सुन आवै ॥ ४३ ॥

छत्रव्यजनभृङ्गारयानवाहनधारिणः ।
महामात्रबहिर्वार्त्ता विदुरन्ये च तद्विधाः ॥ ४४ ।

छत्र, चमर, झारी, यान, वाहन (सवारी) के धारणकरनेवाले महाम
यह सब बाहरके समाचारोंको जानै, तथा इसी प्रकारसे दूसरोंके भी॥४४

सद्व्यञ्जनकर्त्तारस्तल्पकाव्ययकास्तथा ।

प्रसाधका भोजकाश्च गात्रसंवाहका अपि ॥ ४५ ॥

अच्छी रसोई करनेवाले, शय्या करनेमें चतुर, थोडा व्यय करनेवाले, शृंगार करनेवाले, भोजन करानेवाले, शरीर दाबनेवाले ॥ ४५ ॥

जलताम्बूलकुसुमगन्धभूषणदायकाः ।

कर्त्तव्याश्च सदा ह्येते ये चान्येऽभ्यासवर्तिनः ॥४६॥

जल, ताम्बूल, फूल, गंध और भूषणोंके देनेवाले, तथा जो इस कार्यका अभ्यास किये हों उनमें यह ऊपर कहे हुएही नियत करने चाहिये ॥४६॥

संज्ञाभिर्मूर्च्छितैर्लेख्यैराकारैरिङ्गितैरपि ।

सुसञ्चरेयुरव्यग्राश्चराश्चर्या परस्परम् ॥ ४७ ॥

संज्ञासे जाने हुए, मूर्च्छित, लेख, आकार भीतरी, चेष्टा द्वारा चरलोग स्थिर चित्तसे परस्पर दौत्यकार्य करतेहुए विचरण करैं ॥ ४७ ॥

समापिबन्तो जगता मतानि जलानि भूमेरिव सूर्यपादाः ।

अनेकशिल्पाध्ययनप्रवीणाश्चराश्चरेयुर्बहुलिङ्गिरूपाः ४८॥

सम्पूर्ण जगत्की इच्छाको जानते हुए जैसे सूर्यकी किरणै जलोंको ग्रहण करती हैं, इसप्रकार सबकी व्यवस्था ग्रहण करतेहुए अनेक शिल्पविद्या और अध्यापनविद्यामें चतुर दूतगण अनेकप्रकारके रूप धारणकिये विचरण करैं ॥ ४८ ॥

येन प्रकारेण परानुपेयात्परापरज्ञश्च समृद्धिहेतोः ।

तमात्मनिस्वस्थमतिस्तुतज्ज्ञैर्वियुज्यमानंहिपरेणविद्यात् ४९

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे दूतप्रचारश्चरविकल्पो नाम द्वादशः सर्गः ॥१२॥

पर और अपरका जाननेवाला समृद्धिकी इच्छा करताहुआ जिसप्रकार

भोक्तुं पुरुपकारेण दुष्टस्त्रियमिव श्रियम् ।
व्यवसायं सदैवेच्छेन्न हि क्लीववदाचरेत् ॥ १० ॥

दुष्ट स्त्रीकी समान लक्ष्मीको पुरुषकारसे भोगनेके लिये सदा व्यवसाय-की इच्छा करै नपुसकता न करै ॥ १० ॥

वशे श्रियं सदोत्साही सैंही वृत्तिमुपाश्रितः ।
कचग्रहेण कुर्वीत दुर्विनीतामिव स्त्रियम् ॥ ११ ॥

सदा उत्साहवाला सिहकी वृत्तिका आश्रय लियेहुए लक्ष्मीको अपने वशमे करै जिसप्रकारसे बाल पकडकर दुर्विनीत स्त्रीको अपने वशमें किया जाता है ॥ ११ ॥

किरीटमणिचित्रेपु मुर्द्धसु त्राणसारिपु ।
नाकृत्वा विद्विपां पादं पुरुपो भद्रमश्नुते ॥ १२ ॥

यह पुरुष मणियोंसे चित्रित किरीटवाले झिलमटोपधारी शत्रुओंके मस्तकपर चरणदिये विना कल्याणको नहीं प्राप्त होसकता ॥ १२ ॥

प्रयत्नप्रेर्यमाणेन महता चित्तहस्तिना ।
रूढवैरिद्रुमोत्खातमकृत्वेव कुतः सुखम् ॥ १३ ॥

चित्तरूपी हाथीको बडे प्रयत्नसे प्रेरित करके वैरीरूपी वृक्षको जडसे उखाडदिये विना सुखकी प्राप्ति कहा होसकती है ॥ १३ ॥

हेलाकृष्टस्फुरत्कान्तिखड्गांशुपरिपिञ्जरैः ।
श्रीमत्करिकराकारैराक्रीयन्ते भुजैः श्रियः ॥ १४ ॥

लीलासे इधर उधर चलायमान होकर स्फुरायमाण कान्तिवाले खड्गकी अशुओंके समूहवाले शोभायमान हाथीकी सूडकी समान भुजावाले हाथोंसे लक्ष्मी खैचलीजाती है ॥ १४ ॥

उच्चैरुच्चैस्तरामिच्छन्पदान्यायच्छते महान् ।

नीचैर्नीचैस्तरां याति निपातभयशङ्कया ॥ १५ ॥

ऊंचे २ की इच्छा करता हुआ महान् पदपर आरूढ होजाता है और गिरनेके भयकी शंकासे नीचे २ होताहुआ अधिकतर नीचाहोजाताहै॥ १५॥

प्रमाणाभ्यधिकस्यापि महत्सत्वमधिष्ठितः ।
पदं स धत्ते शिरसि करिणः केसरी यथा ॥ १६ ॥

प्रमाणसे अधिकभी महत्पदकी इच्छा करताहुआ यह पुरुष महापद पर आरूढ होजाता है, जिसप्रकार सिंह गजेन्द्रके मस्तकपर अधिष्ठित होजाता है ॥ १६ ॥

गतभीर्भीतिजननं भोगं भोगीव दर्शयेत् ।
यथाबलञ्च कुर्वीत रिपोर्दण्डनिपातनम् ॥ १७ ॥

निर्भय पुरुषको भी भय देता सर्पके फणोंकी समान अपना आडम्बर दिखावै और बलके अनुसार शत्रुपर दण्ड निपातन करै ॥ १७ ॥

प्रकृतिव्यसनं यस्मात्तत्प्रशाम्य समुत्पतेत् ।
अनयापनयाभ्यांञ्च जायते दैवतोऽपि वा ॥ १८ ॥

प्रकृतिके व्यसनको शान्त करकेही आक्रमण करै । प्रकृतिकी रुष्टता अनीति, अनादर और दैवके कोपसे होती है ॥ १८ ॥

यस्माद्धि व्यसति श्रेयस्तस्माद्व्यसनमुच्यते ।
व्यसन्यधोऽधो व्रजति तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ १९ ॥

जिसे कि, कल्याण दूर होजाताहै इसीकारण इसकानाम व्यसनहै व्यसनसेही यह पुरुष नीचे २ चलाजाताहै इसकारण व्यसनको त्यागनकरै१९॥

हुताशनो जलं व्याधिर्दुर्भिक्षो मरकस्तथा ।
इति पञ्चविधं दैवं व्यसनं मानुषं परम् ॥ २० ॥

अग्नि, जल, व्याधि, दुर्भिक्ष और मृत्यु यह पाँच दैवहैं; यह मनुष्यको

पीडित करे तो उसका क्या दोष ? परन्तु व्यसनसे पीडित होना मनुष्यका निज दोषहै ॥ २० ॥

दैवं पुरुषकारेण शान्त्या च प्रशमन्नयेत् ।
उत्थायित्वेन नीत्या च मानुषं कार्यतत्त्ववित् ॥२१॥

दैवको पुरुषकार और शान्तिकर्मसे अपने अनुकूल करै, और कार्यका कर्ता मानुषी व्यसन उद्योग तथा उन्नतिकी इच्छा और नीतिसे त्यागकरै२१

स्वाम्यादि मित्रपर्य्यन्तं प्राकृतं मण्डलं हि तत् ।
तत्र कर्म प्रवक्ष्यामि व्यसनञ्च यथाक्रमम् ॥ २२ ॥

जिसकारण कि, स्वामीसे लेकर मित्रपर्यन्त प्रकृतिमण्डल है उनके कर्म और व्यसनको यथाक्रमसे कहता हू ॥ २२ ॥

मन्त्रो मन्त्रफलावाप्तिः कार्यानुष्ठानमायतिः ॥
आयव्ययौ दण्डनीतिरमित्रप्रतिषेधनम् ॥ २३ ॥

मन्त्र मन्त्रके फलकी प्राप्ति कार्यका अनुष्ठान अ[illegible] फलकी आशा आमदनी खर्च दण्डनीति अमित्रका प्रतिषेध ॥ २३ ॥

व्यसनस्य प्रतीकारो राजराज्याभिषेचनम् ।
इत्यमात्यस्य कर्मेदं हन्ति स व्यसनान्वितः ॥ २४ ॥

व्यसनोका प्रतीकार, राज, राज्याभिषेक यह अमात्यके सब कर्म है उसके व्यसनी होनेसे यह सब नष्ट होतेहै ॥ २४ ॥

अमात्यैर्व्यसनोपेतैर्ह्रियमाणो महीपतिः ।
अमुक्त एवोत्पतति छिन्नपक्ष इवाण्डजः ॥ २५ ॥

व्यसनोंसे युक्त हुए मन्त्रियोंद्वारा हरण होताहुआ राजा छिन्नपंखवाले पक्षीकी समान न छूटकर पतित होताहै ॥ २५ ॥

हिरण्यधान्यवस्त्राणि वाहनानि तथैव च ।

तथान्ये द्रव्यनिचयाः प्रजातः सम्भवन्ति हि ॥ २६ ॥

सुवर्ण, धान्य, वस्त्र और वाहन तथा औरभी सम्पूर्ण द्रव्य प्रजासेही होतेहैं ॥ २६ ॥

वार्त्ता प्रजा साधयति वार्त्ता वै लोकसंश्रयः।
प्रजायां व्यसनस्थायां न किञ्चिदपि सिध्यति॥ २७॥

वार्ताही प्रजाको साधती है वार्ताही लोकको आश्रित करती है, यदि जा व्यसनी होजाय तौ फिर कुछभी सिद्ध नहीं होसकता ॥ २७ ॥

प्रजानामापदि स्थानं रक्षणं कोषदण्डयोः।
पौराश्चैवोपकुर्वन्ति संश्रयायेह दुर्गिणाम् ॥ २८ ॥

प्रजाओंकी आपदामें स्थिति रखनेके निमित्त ही कोषदण्डका रक्षण है र पुरवासियोंके उपकारके निमित्त दुर्गका आश्रय है ॥ २८ ॥

तूष्णीं युद्धं जनत्राणं मित्रामित्रपरिग्रहः।
सामन्ताटविकाबाधानिरोधो दुर्गमुच्यते ॥ २९ ॥

मौन होकर युद्ध करना, अपने जनोंकी रक्षा, मित्र, अमित्रका परिग्रहण, सामन्त और वनवासियोंकी बाधा निरोधके निमित्त दुर्गका विधान है ॥ २९ ॥

स्वपक्षैः परपक्षैश्च दुर्गस्थः पूज्यते नृपः।
एतद्धि दुर्गव्यसनात्सर्वमेव न विद्यते ॥ ३० ॥

दुर्गमें स्थितहुआ राजा अपने और पराये शत्रुके पक्षसे पूजित होता है और दुर्गके व्यसनसे इनमेंसे कोई बात भी नहीं होती ॥ ३० ॥

भृत्यानां भरणं दानं भूषणं वाहनक्रयः।
स्थैर्यं परोपजापश्च दुर्गसंस्कार एव च ॥ ३१ ॥

भृत्यजनोंका भरण, पोषण, वाहन, दान, भूषण, क्रयपदार्थ, स्थिरता, को ताप यह सब दुर्गके संस्कारसेही होते हैं ॥ ३१ ॥

सेतुबन्धवणिक्कर्मप्रजामित्रपरिग्रहः ।
धर्मकामार्थसिद्धिश्च कोपादेतत्प्रवर्त्तते ॥ ३२ ॥

पुलका बाँधना, व्यापार कर्म प्रजामित्रोंका सग्रह, धर्म, काम और अर्थकी सिद्धि यह सब कोषसेही प्रवृत्त होती है ॥ ३२ ॥

कोषमूलो हि राजेति प्रवादः सार्वलौकिकः ।
एतत्सर्वं जहातीह कोषव्यसनवान्नृपः ॥ ३३ ॥

कोषका मूल ही राजा है यह सार्वलौकिक जनश्रुति है, कोषव्यसनको प्राप्तहुआ राजा यह सब त्यागन करदेता है ॥ ३३ ॥

क्षीणं बलं वर्द्धयति स्वतो गृह्णाति च प्रजाः ।
कोषवान्पृथिवीपालः परैरप्युपजीव्यते ॥ ३४ ॥

क्षीणहुए बलको बढाता, तथा प्रजाको स्वय ग्रहण करता इसप्रकार कोषवाला राजा शत्रुओंको भी उपजीवी होता है अर्थात् शत्रुभी उसके आश्रित होजाते है ॥ ३४ ॥

मित्रामित्रहिरण्यानां भूमीनाञ्च प्रसारणम् ।
दूरकार्याशुकारित्वं लब्धस्य परिपालनम् ॥ ३५ ॥

शत्रु, मित्र, सुवर्ण और भूमियोका प्रसार देरमे करना और शीघ्रतासे करना प्राप्तहुई वस्तुकी रक्षा करना ॥ ३५ ॥

परचक्राभिघातश्च स्वदण्डस्य परिग्रहः ।
दण्डादेतत्प्रभवति याति तद्व्यसने क्षयम् ॥ ३६ ॥

शत्रुचक्रका नाश और अपने दण्डका सग्रह यह सब कार्य दण्डसेही होते है और दण्डके व्यसनसे क्षय होजाते है ॥ ३६ ॥

अरयोऽपि हि मित्रत्वं यान्ति दण्डवतो ध्रुवम् ।
दण्डप्रायो हि नृपतिर्भुनक्त्याक्रम्य मेदिनीम् ॥ ३७ ॥

दण्ड ग्रहण करनेवालेके शत्रुभी मित्र होजाते हैं दण्ड ग्रहण करनेवाला राजा आक्रमण कर पृथ्वीको भोगता है ॥ ३७ ॥

संस्तम्भयति मित्राणि ह्यमित्रं नाशयत्यपि ।
भूकोषदण्डैर्व्रजति प्राणैश्चाप्युपकारिताम् ॥ ३८ ॥

मित्रोंको स्थित रखता और शत्रुओंको मारता है, पृथ्वी कोष और दण्डवालेका दूसरे लोग प्राण लगाकरभी उपकार करते हैं ॥ ३८ ॥

ततः करोति सुबहु मित्रं स्नेहनिबन्धनम् ।
तस्मिन् व्यसनमापन्ने मित्रकर्म न विद्यते ॥ ३९ ॥

और इसीसे मित्रभी बहुत स्नेह करते हैं और इनके व्यसनको प्राप्त होनेसे मित्रकर्म भलीप्रकारसे नहीं होते ॥ ३९ ॥

उपकारादृते ह्याशु मित्रं श्रेयसि तिष्ठति ।
मित्रवान्साधयत्यर्थान्दुःसाध्यानप्यनादरात् ॥ ४० ॥

उपकारके विनाभी मित्र कल्याण कार्यमें लगा रहता है, उस मित्रके बलवाला राजा दुःसाध्य कार्योंको भी दूसरोंका अनादर करके सिद्ध करसकता है ॥ ४० ॥

अन्वीक्षणञ्च विद्यानां स्ववर्णाश्रमरक्षणम् ।
ग्रहणं शुद्धशस्त्राणां युद्धमार्गेऽपि शिक्षणम् ॥ ४१ ॥

विद्याओंको देखकर अपने वर्ण और आश्रमकी रक्षा, शुद्धशस्त्रोंका ग्रहण, युद्धमार्गका शिक्षण ॥ ४१ ॥

व्यायामः शस्त्रविज्ञानं कर्म्मणां लक्षणानि च ।
गजाश्वरथपृष्ठेषु यथावत्सम्प्रवर्त्तनम् ॥ ४२ ॥

कसरत करना, शस्त्रका विज्ञान, कर्मोंके लक्षण, गज, अश्व, रथ इन पर यथावत् चढनेका ज्ञान होना ॥ ४२ ॥

नियुद्धकुशलं मायापरचित्तप्रवेशनम् ।

धूर्त्तता शाठ्ययुक्तेषु सत्सु सद्व्रतदर्शनम् ॥ ४३ ॥

युद्धमे कुशलता मायासे पराये चित्तमे प्रवेश करजाना शठोके प्रति शठता, महात्माओंमे सुव्रत का अनुष्ठान ॥ ४३ ॥

मन्त्रोद्योगोऽनुमन्त्रत्वं तद्रक्षा स्वास्थ्यमेव च ।
उपेक्षा सामदानस्य भेदो दण्डस्य साधनम् ॥ ४४ ॥

मन्त्रका उद्योग, उसकी फिर अनुमति लेना, उसकी रक्षा, स्वास्थ्य, उपेक्षा, साम दानका विचार, भेद दण्डका साधन ॥ ४४ ॥

प्रशास्त्रध्यक्षसेनानां मन्त्र्यमात्यपुरोधसाम् ।
सम्यक् प्रचारविज्ञानं दुष्टानाञ्चावरोधनम् ॥ ४५ ॥

अध्यक्ष और सेनाओंका शासन, मन्त्री, प्रधान, अमात्य और पुरोहितोंके प्रचार कर्मका भलीभाँति ज्ञान होना, दुष्टोंको दुष्टकर्मसे रोकना ४५॥

गतागतपरिज्ञानं दूतसम्प्रेपणानि च ।
प्रकृतिव्यसनापोहक्रुद्धप्रशमनानि च ॥ ४६ ॥

आये गयेका ज्ञान होना, दूतोंके भेजनेका विधान, प्रकृतियोके व्यसन और क्रोधकी शान्ति ॥ ४६ ॥

गुरूणामनुवृत्तिश्च पूज्यानाञ्चाभिपूजनम् ।
धर्मासनप्रतिष्ठानं राज्यकण्टकशोधनम् ॥ ४७ ॥

गुरुओंके अनुकूल वर्तना, पूज्यजनोंका पूजन करना, धर्मासनपर स्थिति, राज्यकण्टकोंका शोधन ॥ ४७ ॥

भूताभूतपरिज्ञानं कृताकृतपरीक्षणम् ।
तुष्टातुष्टविचारश्च सर्वेषामनुजीवनम् ॥ ४८ ॥
मध्योदासीनचरितज्ञानं तत्सिद्धिपालनम् ।
परिग्रहस्तु मित्राणाममित्राणाञ्च निग्रहः ॥ ४९ ॥

यह कार्य हुवा या नहीं, इसका ज्ञान किये न कियेकी परीक्षा, सन्तुष्ट और असुन्तुष्टका विचार, सबके वृत्तिका यथायोग्य विचार, मध्य और उदासीन पुरुषोंके चरित्रका ज्ञान, उनके कार्यकी सिद्धि और पालना, अपने मित्रोंका संग्रह और शत्रुओंका निग्रह ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

पुत्रदारादिभिर्गुप्तिर्बन्धुवर्गपरिग्रहः ।
स्ववृद्धिपवनादीना स्ववृत्तीना प्रवर्त्तनम् ॥ ५० ॥

पुत्र, स्त्री आदिकी रक्षा, बंधुजनोंका ग्रहण, अपनी वृद्धि और अपनी पवित्र वृत्तियोंका वर्ताव ॥ ५० ॥

असताञ्च परिक्लेशः सताञ्च परिगूहनम् ।
अहिंसा सर्वभूतानामधर्माणाञ्च वर्जनम् ॥ ५१ ॥

असत्पुरुषोंको क्लेशित करना, सत्पुरुषोंकी रक्षा करनी, किसी प्राणी-की हिंसा न करनी और अधर्मोंका त्याग भलीभाँति करना ॥ ५१ ॥

अकार्यप्रतिषेधश्च कार्याणाञ्च प्रवर्त्तनम् ।
प्रदानञ्च प्रदेयानामदेयानाञ्च संग्रहः ॥ ५२ ॥

अकार्य न करना, सुकार्यमें वर्तना, देने योग्य वस्तुका देना, अदेयवस्तु-की रक्षा करनी ॥ ५२ ॥

अदण्डनमदण्ड्यानां दण्ड्यानाञ्चापि दण्डनम् ।
अग्राह्याग्रहणञ्चैव ग्राह्याणां ग्रहणं तथा ॥ ५३ ॥

जो दण्डके योग्य नहीं हैं उनको दण्ड न देना और जो दण्डके योग्य हैं उनको दण्ड देना, जो अगृहीत नहीं हैं उनका ग्रहण न करना और जो ग्रहणके योग्यहैं उनका ग्रहण करना ॥ ५३ ॥

अर्थयुक्तस्य करणमनर्थस्य च वर्जनम् ।
न्यायतश्च करादानं स्वयं वा प्रतिमोक्षणम् ॥ ५४ ॥

गुपितो दूरसंस्थश्च कोपव्यसनमुच्यते ॥ ६६ ॥

बहुत खर्च होगया हुआ, परिक्षिप्त (सब ओरसे घिरा) भक्षण कर लियागया, इकट्ठा न कियागया, चुरायागया तथा अपनेसे दूर होना यह कोषके व्यसन हैं ॥ ६६ ॥

उपरुद्धं परिक्षिप्तं विमानितममानितम् ।
अभृतं व्याधितं श्रान्तं दूरायातं नवागतम् ॥ ६७ ॥

रोकीहुई, सब ओरसे घिरीहुई, सन्मान न पाईहुई, तिरस्कृत तनख्वाह न दीगई, व्याधिपीडित, थकित, दूरसे आईहुई, नवीन आई अर्थात् भरती कीहुई ॥ ६७ ॥

परिक्षीणाग्ररहितं प्रहताग्रजवं तथा ।
आशानिर्वेदभूयिष्ठमनृतप्राप्तमेव च ॥ ६८ ॥

कृश, नायकहीन, हतवेगवाली, वा छिन्न आगावाली, तथा असत्यसे प्राप्त हुई ॥ ६८ ॥

कलत्रगर्भं विक्षिप्तमन्तःशल्यं तथैव च ।
भिन्नगर्भं ह्यपसृतमवित्यक्तं तथैव च ॥ ६९ ॥

स्त्रीजनोंसे युक्त, विक्षिप्त (अनिश्चितचित्त) वाली, भीतर किसी प्रकारके द्वेषवाली, जिसके भेद खुलगया है ऐसी, छिन्न भिन्न रहनेवाली तथा बहुत सघट्टसे रहनेवाली ॥ ६९ ॥

क्रुद्धमौलाविमिश्रञ्च विशिष्टञ्चापि विद्विषा ।
दूष्ययुक्तं स्वविक्षिप्तं मित्रविक्षिप्तमेव च ॥ ७० ॥

क्रोधित, अपने नायकसे विमन, शत्रुसे मिली वा शत्रुका पक्ष करनेवाली वा शत्रुसे युक्त, जिसे कोई दोष लगा हो, विक्षिप्त वा विक्षिप्त मित्रवाली ॥ ७० ॥

विच्छिन्नविविधासारं शून्यमूलं तथैव च ।

अस्वामिसङ्गतश्चापि भिन्नकूटं तथैव च ॥ ७१ ॥

जिसके भार ढोनेकी सामग्री, सुहृद्बल तथा धान्यादि नहीं है, शून्य-मूलवाली, स्वामीकी संगतिसे रहित भिन्न अन्नधान्यवाली ॥ ७१ ॥

दुष्पार्ष्णिग्रहसन्धश्च बलव्यसनमुच्यते ।
अत्र किञ्चिदसाध्यञ्च किञ्चित्साध्यन्तदुच्यते ॥ ७२ ॥

खोटे पार्ष्णिग्राह (दहिने बायें विभाग) वाली, वा पश्चात् कोपवाली, कार्यविचारमें अन्धता करनेवाली सेना युद्धके योग्य नहीं होसकती यह सेनाके व्यसन हैं इस विषयमें जो साध्य और जो असाध्य है सो वर्णन करते हैं कि—किसप्रकारसे यह सेना युद्ध करेगी ॥ ७२ ॥

अपरुद्धं हि युध्येत निर्गत्यात्यन्तमूर्जितम् ।
परिक्षिप्तं तु निर्मार्गं सर्वतः परिवेष्टितम् ॥ ७३ ॥

रुकीहुई सेना युद्ध करतीहै, वह अत्यन्त वेगवती होकर निकलती है सब ओरसे घिरी रहनेके कारण परिक्षिप्त सेनाके निकलनेका मार्ग नहीं ७३

असमानितं हि युध्येत कृतमानार्थसंग्रहम् ।
न विमानितमत्यर्थं प्रदीप्तक्रोधपावकम् ॥ ७४ ॥

असमानित अर्थात् तिरस्कार कीहुई सेना, सत्कार करनेसे युद्ध कर-सकती है पर अत्यन्त तिरस्कार कीहुई जिसकी क्रोधाग्नि भभक रही है वह युद्धके योग्य नहीं है ॥ ७४ ॥

युध्येताभृतमत्यर्थं तदात्वे कृतवेतनः ।
न व्याधितमकर्मण्यं व्याधितं परिभूयते ॥ ७५ ॥

तनख्वाह न दीहुईकी वृत्ति दे देनेसे वह उसी समय शत्रुसे युद्धको तयार होती है और व्याधीवाली अकर्मण्य सेना युद्धके योग्य नहीं है कारण कि, व्याधि युक्त शरीरवाला तिरस्कारको प्राप्त होता है ॥ ७५ ॥

परिश्रान्तं हि युध्येत विश्रान्तं सुविधानतः ।

विषयमे पडीहुई, विक्षिप्त और आपत्तिमें पडीहुई आक्षिप्त है, देशकाल-की गतिसे, मित्रोंसे त्यागी और अयोगिक ॥ ८६ ॥

धान्यादेर्वीवधाप्तानिरासारस्तु सुहृद्बलम् ।
विच्छिन्नवीवधासारं सैन्यं युद्धाय नेष्यते ॥ ८७ ॥

धान्यादिकी प्राप्ति, वीवध और सुहृद्बलका नाम आसारहै इन दोनोंसे रहित सेना भी युद्ध करनेम समर्थ नही होती ॥ ८७ ॥

कृतजानपदारक्ष्यं शून्यमूलं युधि क्षमम् ।
अस्वामिसंहतञ्चैव स्वामिना यद्विना कृतम् ॥ ८८ ॥

जनपदकी जिससे रक्षा नही वह शून्यमूलवाली युद्ध करनेमें असमर्थ है स्वामिरहित सेना अस्वामि सहतवाली कहाती है ॥ ८८ ॥

न युध्येत भिन्नकूटं भिन्नकूटमनायकम् ।
पश्चात्कोपाभितप्तं तु दुष्पार्ष्णिग्राहमक्षमम् ॥ ८९ ॥

नायकरहितसेना भिन्नकूट कहातीहै और युद्ध करनेको समर्थ नही होती पीछे कोपसे तापित हुई, दुःष्पार्ष्णिग्राहवाली कहातीहै वह भी युद्धमें समर्थ नहीं ॥ ८९ ॥

आदेशिकं स्मृतं युद्धं मूढत्वान्न क्रियाक्षमम् ।
बलं व्यसनमित्यादि तत्समीक्ष्य समुत्पतेत् ॥ ९० ॥

कुदेशमे युद्धके निमित्त आह्वान कीहुई, मूढ होनेसे क्रियामें असमर्थ यह सब सेनाके व्यसनहै, इनको देखभालकर चढाई करै ॥ ९० ॥

दैवोपपीडितं मित्रं ग्रस्तं शत्रुबलेन च ।
कामक्रोधसमुत्थैश्च दोषैः सम्परिकीर्त्तितैः ॥ ९१ ॥

दैवसे पीडित, मित्रवाली, शत्रुसेनासे ग्रस्त सेनाको कामक्रोधसे उं दोषोंसे युक्त होनेसे व्यसनसयुक्त कहाहै ॥ ९१ ॥

नरेन्द्राद्याः प्रतकृतयः सप्त याः परिकीर्त्तिताः ।
पूर्वं पूर्वं गुरुतरं तासां व्यसनमुच्यते ॥ ९२ ॥

राजाको आदि लेकर जो सात प्रकृतियें कहीहैं उनके व्यसन पूर्व पूर्वमें अधिक कष्टकर गिने जाते हैं ॥ ९२ ॥

इत्यादि सर्वं प्रकृतं यथा वद्बुध्येत राजा व्यसनं प्रयत्नात् ।
बुध्या च शक्त्या व्यसनस्य कुर्यादकालहीनं व्यपरोपणंहि ९३

इसप्रकारसे राजा विधिपूर्वक सबके व्यसनोंको जानै, और अपनी बुद्धि तथा शक्तिसे व्यसनको अधूरेपनमेंही नष्ट करदे, अकालमें हीनवस्तु सहनमें नष्ट होसकतीहै ॥ ९३ ॥

प्रकृतिव्यसनानि भूतिकामः समुपेक्षेत नहि प्रमाददर्पात् ।
प्रकृतिव्यसनान्युपेक्षते यो न चिरात्तं रिपवःपराभवन्ति९४

विभूतिकी इच्छावाला प्रमाद वा दर्पसे प्रकृतिके व्यसनोंकी उपेक्षा नकरै प्रकृतिके व्यसनोंकी उपेक्षा करनेवालेको शीघ्रही शत्रु तिरस्कार करतेहैं९४

इदमिदमिति सम्यक् कर्मणा योजनीयं
नियतमिति विचिन्त्य प्रापयेदीहमानः ॥
सुनयपिहितरन्ध्रः प्राकृतो यस्य वर्गः
क्षितिपतिरुपभुङ्क्ते स त्रिवर्गं चिराय ॥ ९५ ॥

इति श्रीका०नी०उत्सारप्रशंसाप्रकृतिव्यसनानि त्र०स०१३.

यह ऐसा यह ऐसे इसप्रकारसे चेष्टावाला राजा निरन्तर प्रकृतियोंको कार्यमें लगावै, जिस राजाकी प्रकृतिका छिद्र नीतिमार्गसे ढका हुआहै, वह राजा चिरकालतक धर्म, अर्थ, कामको भोगताहै ॥ ९५ ॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे भाषाटीकायां उत्सारप्रशंसा
प्रकृतिव्यसनानि त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

चतुर्दशः सर्गः १४.

अमात्याद्याःप्रकृतयो मित्रान्ता राज्यमुच्यते।
अशेषराज्यव्यसनात्पार्थिवव्यसनं गुरु ॥ १ ॥

अमात्यको आदिलेकर मित्रपर्यन्त प्रकृतिये, यह सब राज्य कहाता है, सब राज्यके व्यसनसे राजाका व्यसन भारी है ॥ १ ॥

राजा त्वव्यसनी राज्यव्यसनापोहनक्षमः।
न राज्यव्यसनापोहसमर्थं राज्यमूर्जितम् ॥ २ ॥

जो राजा व्यसनग्रस्त न हो, वही राज्यके व्यसन दूरकरनेमे समर्थ है, अन्यथा वह बृहत् राज्यके व्यसन दूरकरनेमे समर्थ नहीं है ॥ २ ॥

अशास्त्रचक्षुर्नृपतिरन्ध इत्यभिधीयते।
वरमन्धो न चक्षुष्मान्मदादाक्षिप्तसत्पथः ॥ ३ ॥

जिस राजाके शास्त्ररूपी नेत्र नहीं है वह राजा अन्धा कहा जाता है नेत्रोंवाला अन्धा अच्छा नहीं जिसने मदसे सन्मार्गको बिगाड दियाहै॥ ३॥

मन्त्रिभिर्मन्त्रकुशलैरन्धः सन्तार्यते नृपः।
चक्षुष्मांश्च मदान्धः सन्नात्मानं हन्त्यशेषतः ॥ ४ ॥

मन्त्र जाननेवाले कुशल मन्त्रियोंसे अन्धा राजा तार दिया जाता है, और नेत्रोंवाला मदान्ध होनेसे विशेष प्रकारसे अपनी आत्माको नष्ट करता है ॥ ४ ॥

शास्त्रचक्षुर्नृपस्तस्मान्महामात्यमते स्थितः।
धर्मार्थप्रतिघातीनि व्यसनानि परित्यजेत् ॥ ५ ॥

राजा शास्त्रहीके नेत्रवाला है वह महाअमात्योंके मार्गमे स्थित हुआ धर्म अर्थके प्रतिघात करनेवाले व्यसनोंको त्यागदे ॥ ५ ॥

वाग्दण्डयोश्च पारुष्यमर्थदूषणमेव च।

स्मृतं व्यसनतत्त्वज्ञैः क्रोधजं व्यसनत्रयम् ॥ ६ ॥

वाणीका दण्ड, कठोरता, अर्थदूषण यह तीन व्यसन व्यसनके जाननेवालोंने क्रोधसे उत्पन्न हुए कहेहैं ॥ ६ ॥

कामजं मृगया द्यूतं स्त्रियः पानं तथैव च ।
व्यसनं व्यसनार्थज्ञैश्चतुर्विधमुदाहृतम् ॥ ७ ॥

मृगया जुवा स्त्री और पान यह चार व्यसन व्यसनके जाननेवालोंने कामज कहेहैं ॥ ७ ॥

वाक्पारुष्यपरं लोक उद्वेजनमनर्थकम् ।
न कुर्यात्प्रियया वाचा प्रकुर्याज्जगदात्मताम् ॥ ८ ॥

जो पुरुष वाणीकी कठोरता करता है, उससे लोक उद्वेजित होतेहैं और वह अनर्थकारी है, इससे वह वाणी न बोले और प्यारी वाणीसे जगत्को अपने वशमें करै ॥ ८ ॥

अकस्मादेव यः कोपादभीक्ष्णं बहु भाषते ।
तस्मादुद्विजते लोकः सस्फुलिङ्गादिवानलात् ॥९॥

जो अकस्मात्ही क्रोधसे बहुत कुछ कहने लगता है, उससे लोग विपरीत होजाते हैं, जैसे चिनगारी उडानेवाली अग्निसे लोग उद्वेजित रहते हैं ॥ ९ ॥

हृदये वागसिस्तीक्ष्णो मर्मच्छिद्धि पतन्मुहुः ।
तेन च्छिन्नो नरपतिः स दीप्तो याति वैरिताम् ॥१०॥

वाणीरूपी तलवार हृदयमें लगकर वारंवार मर्मको छेदन करती है, उससे छिन्न हुआ तथा क्रोधित हुआ पुरुष सदा वैरके योग्य होता है अर्थात् राजासे सदा वैर करता है ॥ १० ॥

नोद्वेजयेज्जगद्वाचा रूक्षया प्रियवाग्भवेत् ।
प्रायेण प्रियकर्मा यो कृपणोऽपि हि सेव्यते ॥ ११ ॥

रूखी वाणीसे जगत्को उद्वेजित न करे सदा प्यारी वाणी बोले बहुधा
पणभी हो पर प्रियवाणीवाला सदा सेवित होता है ॥ ११ ॥

असिद्धसाधनं षड्भिः शासनं दण्डमुच्यते ।
तद्युक्तेऽपनये दण्ड्ये युक्तदण्डः प्रशस्यते ॥ १२ ॥

सत्पुरुषोने छहोमेंसे दण्डशासनको असिद्ध शासन कहा है, यदि
अनीतिसे युक्त हो दण्ड दिया जाता है तो वह ठीक नहीं है वह युक्त
रही दण्ड दिया जाय तो बडाईके योग्य है ॥ १२ ॥

उद्वेजयति भूतानि दण्डपारुष्यवान्नृपः ।
भूतान्युद्वेजमानानि द्विषतां यान्ति संश्रयम् ॥ १३ ॥

दण्ड देनवाला तथा कठोर वचन कहने वाला राजा प्राणियोको विरक्त
कर देता है, और वे विरक्त हुए प्राणी निश्चय शत्रुओंसे मिलजाते है॥ १३ ॥

आश्रिताश्चैव लोकस्य विवृद्धिं यान्ति विद्विषः ।
विवृद्धाश्च विनाशाय तस्मान्नोद्वेजयेत्प्रजाः ॥ १४ ॥

और उस प्रजाके आश्रित होनेसे शत्रुगण वृद्धिको प्राप्त होजाते है,
और शत्रुकी वृद्धि अपने नाशके लिये होती है, इसकारण प्रजाको विरक्त
न करे ॥ १४ ॥

लोकानुग्रहकर्त्तारः प्रवर्द्धन्ते महीभुजः ।
लोकवृद्ध्या नरेन्द्राणांवृद्धिस्तत्सङ्क्षये क्षयः॥ १५ ॥

लोकोपर अनुग्रह करनेवाले राजा वृद्धिको प्राप्त होते है, लोककी वृद्धिसे
राजाकी वृद्धि और लोकक्षयसे राजाका क्षय होताहै ॥ १५ ॥

महत्स्वप्यपराधेषु दण्डं प्राणान्तिकं त्यजेत् ।
ऋते राज्यापहारात्तु युक्तदण्डः प्रशस्यते ॥ १६ ॥

बडे अपराधमें भी प्राणवियोगका दण्ड न देके बल राज्य हरण कर-
नेवालेहीको यह दण्ड है इससे युक्त दण्डकीही प्रशंसा की है ॥ १६ ॥

दूष्यस्यादूषणार्थश्च परित्यागो महीयसः ।
अर्थस्य नीतितत्त्वज्ञैरर्थदूषणमुच्यते ॥ १७ ॥

दूष्य तथा दूषित अर्थका अवश्य त्याग करना चाहिये, नीतिके ज्ञाताओंने अर्थहानिकोही अर्थ दूषण कहाहै ॥ १७ ॥

तदकस्मात्समाविष्टः कोपेनातिबलीयसा ।
नित्यमात्महिताकाङ्क्षी न कुर्य्यादर्थदूषणम् ॥ १८ ॥

इससे अकस्मात् प्राप्त हुए अत्यन्त बलिष्ठ क्रोधसे अपनेहितकी इच्छावाला अर्थदूषण न करै ॥ १८ ॥

यानक्षोभो यानवतो यानाभिहरणं तथा ।
क्षुत्पिपासाश्रमायासशीतवातोष्णपीडनम् ॥ १९ ॥

सवारीमें जानेवालोंको यानका क्षोभ, तथा सवारीका हरण, भूँख, प्यास, श्रम, परिश्रम, शीत, वात, उष्णताकी पीडा ॥ १९ ॥

अभियानस्य सम्पत्त्या यानव्यसनजं महत् ।
दुःख प्रतप्तसिकताकुशकण्टकभूमयः ॥ २० ॥

यह अभिगमनकी सम्पात्तिसे यानके व्यसन कहे हैं, यह भी महान् व्यसनहैं दुःखरूप तपी हुई बालू कुशकण्टकसंयुक्त भूमियोंमें विचरण ॥ २० ॥

वृक्षसङ्कटजा दोषा लताकण्टकपाटनम् ।
शैलपादलताजालस्थाणुवल्मीकपीडनम् ॥ २१ ॥

तथा वृक्षोंके संघट्टसे उत्पन्न हुए दोष, लता और कांटोंका पाटना, पर्वतोंके स्थान, लताओंके समूह, ठूंठ और वल्मीकके स्थानोंका पीडन ॥ २१ ॥

प्रच्छन्नोपगतैः शैलसरिद्विपिनकुक्षिषु ।
वधबन्धपरिक्लेशैः सामन्ताटविकादिभिः ॥ २२ ॥

सबओरसे वनमें विचरनेवालोंको वधबंधनकी प्राप्ति पर्वत नदी वनोंके किनारोंमें छिपकर गमन करना ॥ २२ ॥

स्वसैन्यैश्च स्वकल्पैश्च परभिन्नैश्च मारणम् ।
ऋक्षाजगरमातङ्गसिंहव्याघ्रभयानि च ॥ २३ ॥

अपनी सेना और सामग्री सामर्थ्यसे तथा दूसरोसे भिन्न होनेसे मारण रीछ अजगर सर्प हाथी सिंह और व्याघ्रोंका भय ॥ २३ ॥

दवाग्निधूमसंरोधो दिङ्मोहो भ्रमणानि च ।
इत्यादि पृथिवीन्द्राणां मृगयाव्यसनं स्मृतम् ॥ २४ ॥

दवाग्नि लगना, धूमसकट, दिशाका मोह होजाना तथा अतिशय भ्रमण करना यह राजोंको मृगयाके व्यसन वर्णन कियेहै ॥ २४ ॥

जितश्रमत्वं व्यायाम आममेदकफक्षयः ।
चरस्थिरेषु लक्षेषु बाणसिद्धिरनुत्तमा ॥ २५ ॥

जितश्रमी होना अर्थात् परिश्रमको कुछ न गिनना, कसरती होना, आम-मेदा और कफका क्षय होना, लक्ष्य निशानेमे चिरास्थिरता, और श्रेष्ठबाणकी सिद्धि होना ॥ २५ ॥

मृगयायां गुणानेतानाहुरन्ये न तत्क्षमम् ।
दोषाः प्राणहराः प्रायस्तस्मात्तद्व्यसनं महत् ॥ २६ ॥

यह इतने मृगयाके गुण वर्णन कियेहै, पर दूसरे इसको नही मानते, वह कहते है कि इसके दोष प्राय प्राण हरनेवाले है, इसकारण यह बडा व्यसनहै २६

आमादयो हि जीर्यन्ते योग्ययैव दिवानिशम् ।
चरेषु यत्र लक्ष्येषु बाणसिद्धिश्च जायते ॥ २७ ॥

दिन रात यथायोग्य आहार विहार करनेसे आमादि जीर्ण होजातेहै, और दूसरी वस्तुओंमें निशान लगानेसे बाणसिद्धि होजातीहै ॥ २७ ॥

अथ चेन्मृगयाक्रीडां वाञ्छेत नगरान्तिके ।
कारयेन्मृगयारण्यं क्रीडाहेतोर्मनोरमम् ॥ २८ ॥

और जो मृगया क्रीडाकी इच्छाही हो तो अपने नगरके समीपमें अपने क्रीडा करनेके निमित्त मनोहर क्रीडावन बनवावे ॥ २८ ॥

परिक्षिप्तं परिखया मृगाणामप्यगम्यया ।
आयामपरिणाहाभ्यामर्द्धयोजनसंमितम् ॥ २९ ॥

जिसके चारों ओर ऐसी परिखा हो जिसको मृग न लाँघसकै, वह लम्बा व चौडानमें दो कोशकी हो ॥ २९ ॥

गिरेरुपान्ते नद्या वा पर्याप्तजलशाद्वलम् ।
अकण्टकलतागुल्मं विषपादपवर्जितम् ॥ ३० ॥

पर्वत वा नदीके समीप जहां जलकी अच्छी प्रकार प्राप्ति होसकै कांटेलताओंके गुल्म और विषैले वृक्ष वहां न हों ॥ ३० ॥

पादपैः पुष्पफलदैः विज्ञातैश्चित्तहारिभिः ।
स्निग्धशीतघनच्छायैर्विटपैरुपशोभितम् ॥ ३१ ॥

उसमें पुष्पफलवाले वृक्ष अपने जाने हुए चित्तहरण करनेवाले हों स्निग्ध शीतल घनेछायावाले वृक्षोंसे शोभित हो ॥ ३१ ॥

पांशुपूरितनिश्छिद्रं शुभ्रप्रदरकन्दरम् ।
दलितस्थाणुवल्मीकपाषाणं समभूतलम् ॥ ३२ ॥

रेतेसे सम्पन्न छिद्र रहित अच्छी दरीकन्दराओंसे सम्पन्न ठूंठ बँबई पत्थरोंसे रहित समानभूमिवाला ॥ ३२ ॥

शोधितग्राहसलिलं सम्भूतजलदाशयम् ।
नानापुष्पसमाकीर्णं नानाविहगसङ्कुलम् ॥ ३३ ॥

जिसके जलकी गहराई और ग्राहादिका शोधकर लिया हो ऐसे बडे जलाशयवाला, अनेक पुष्पोंसे युक्त तथा अनेक पक्षियोंसे व्याप्त ॥ ३३ ॥

मृगसङ्घातसम्पूर्णं हस्तिनीकलभान्वितम् ।

भग्नदन्तनखव्याघ्रं छिन्नशृङ्गविषाणि च ॥ ३४ ॥

मृगोंके समूहसे पूर्ण हथिनी और हाथीके बच्चोंसे भरा हुआ, दांत और नख तोडे हुए व्याघ्रोंवाला, तथा शींग तोडे हुए मृगोंवाला ॥ ३४ ॥

सुखसंसेव्यलतया पुष्पवल्लीपिनद्धया ।
वनराज्या परिक्षिप्तं परिखातटजातया ॥ ३५ ॥

सुखसे प्राप्त होने योग्य पुष्पलताओंके आश्रित, वनराजीके समीप छोडे हुए जो परिखाके समीप लगाई हो उसमें स्थिति करै ॥ ३५ ॥

बहिर्दूरान्तराभोगनिर्वृक्षसमभूतलम् ।
अगम्यं रिपुसैन्यानां मनःप्रीतिविवर्द्धनम् ॥ ३६ ॥

उनके थोडी दूरतक वृक्षरहित समान भूमि हो जो शत्रुसेनाको अगम्य मनको प्रसन्न करनेवाला मृगया वन हो ॥ ३६ ॥

तद्वने चरचित्तज्ञैः क्लेशायाससहैर्दृढैः ।
रक्षितं रक्षिभिः स्वाप्तैर्भूभुजां भूरिभूतये ॥ ३७ ॥

उस वनमें विचरनेवाले, स्वामीके चित्तको जाननेवाले क्लेश परिश्रमके सहने वाले, दृढ, आप्त रक्षाकरनेवाले राजाकी बडी ऐश्वर्यसिद्धिके लिये रक्षा करै ॥ ३७ ॥

तत्कर्मान्तो नरेन्द्रस्य जनो जितपरिश्रमः ।
क्रीडनायास्य विविधा मृगजातीः प्रवेशयेत् ॥ ३८ ॥

परिश्रम जीतेहुए पुरुष राजाके मृगयाकार्यके निमित्त तथा क्रीडाके निमित्त इस वनमें अनेक जातिके मृगोंको प्रवेश करावै ॥ ३८ ॥

अन्यकार्याविरोधेन प्रातश्चंक्रमणक्षमः ।
क्रीडनायाविशेद्राजा तदाप्तैः सहितो मतैः ॥ ३९ ॥

जिसमें दूसरे कार्योंमें विघ्न न पडै, ऐसे प्रभातकालमें सक्रमणमें समर्थ राजा ...

यदा च प्रविशेद्राजा क्रीडनार्थं तदा बहिः ।
सन्नद्धं यत्नतस्तिष्ठेत्सैन्यं दूरान्तगोचरम् ॥ ४० ॥

जब राजा मृगक्रीडाके निमित्त उस वनमें प्रवेश करै तब राजाकी सेना दूरसे देखती हुई खडी रहै ॥ ४० ॥

सद्भिर्ये मृगयायाने गुणाः साधु प्रकीर्त्तिताः ।
क्रीडाप्रीतो नरपतिस्तांस्तत्र समवाप्नुयात् ॥ ४१ ॥

सत्पुरुषोंने मृगयायानमें जितने गुण कीर्तन किये हैं, क्रीडामें प्रसन्न होनेवाला राजा वह सब गुण इस क्रीडावनमें प्राप्त करसकता है ॥ ४१ ॥

विधिरेष समुद्दिष्टो मृगयाक्रीडने वरः ।
न गच्छेदन्यथा राजा मृगयायां मृगा यथा ॥ ४२ ॥

मृगयाक्रीडनमें यह विधि सबसे उत्तम देखी है इसके सिवाय राजा मृगोंकी समान मृगयाके निमित्त न जाय ॥ ४२ ॥

महता रक्षणेनापि धनस्य द्राग्विमुक्तता ।
निःसत्यता निष्ठुरता क्रोधो वाक्शस्त्रखण्डनम् ॥ ४३ ॥

इसमें बडी कठिनतासे इकट्ठे किये हुए धनका एक साथ व्यय होता है, और निःसत्यता निठुराई क्रोधकी वाणी शस्त्रका खण्डन ॥ ४३ ॥

लोभो धर्मक्रियालोपः कर्मणामप्रवर्त्तनम् ।
सत्समागमविच्छित्तिरसद्भिः सह वर्त्तनम् ॥ ४४ ॥

लोभ, धर्मक्रियाका लोप, कर्मोंमें अप्रवृत्ति, सत्पुरुषोंके समागमका वियोग, असत्पुरुषोंके साथ वर्तना ॥ ४४ ॥

अर्थनाशक्रियावश्यं नित्यं वैरानुबन्धिता ।
सत्यप्यर्थे निराशत्वमसत्यपि च रागिता ॥ ४५ ॥

अर्थका नाश, क्रियाकी वश्यता, नित्य वैरका बाँधना, अर्थके होनेमें निराशता और न होनेवाले अर्थमें प्रेम ॥ ४५ ॥

गुप्तबातका प्रगट कर देना उसके पक्षसे अकार्यमें प्रवृत्त होना ईर्षा अमर्ष (असहन शीलता) क्रोध, हठ, साहस ॥ ५६ ॥

इत्यादि च स्त्रीव्यसनं पूर्वं यच्च प्रकीर्त्तितम् ।
तस्मात्स्त्रीव्यसनं राजा राज्यकामः परित्यजेत् ॥५७॥

यह सब अतिस्त्रीसेवनके व्यसनहै, जो पूर्वमें कहे है, इससे राज्यकी इच्छावाला राजा स्त्री व्यसनको त्यागदे ॥ ५७ ॥

स्त्रीमुखालोकनतया व्यग्राणामल्पचेतसाम् ।
ईहितानि हि गच्छन्ति यौवनेन सह क्षयम् ॥ ५८ ॥

जो अल्पचित्त पुरुष स्त्रीके मुखदेखनेमेंही व्यग्र रहतेहै, उनकी सब चेष्टायें उनकी युवा अवस्थाके सहित क्षय होजाती है ॥ ५८ ॥

गमनं विह्वलत्वञ्च संज्ञानाशो विवस्त्रता ।
असम्बन्धप्रलापित्वमकस्माद्व्यसनं मुहुः ॥ ५९ ॥

चलना अर्थात् घूमते रहना, व्याकुलता, सज्ञानाश, वस्त्ररहित होजाना वृथा बकबक करना, प्रलाप, अकस्मात् व्यसनमें पडना ॥ ५९ ॥

प्राणग्लानिः सुहृन्नाशः प्रज्ञाश्रुतिमतिभ्रमः ।
सद्भिर्वियोगोऽसद्भिश्च सङ्गोऽनर्थेन सङ्गमः ॥ ६० ॥

अपने प्राणोमें ग्लानि करना, मित्रजनोका नाश, बुद्धि, शास्त्र और मतिमें भ्रम होना, सत्पुरुषोसे वियुक्त रहना, असत्पुरुषोंकी सगति करना अनर्थोंका समागम ॥ ६० ॥

स्खलनं वेपथुस्तन्द्रा नितान्तस्त्रीनिषेवणम् ।
इत्यादिपानव्यसनमत्यन्तं सद्भिर्गर्हितम् ॥ ६१ ॥

पद पदपर स्खलित होना, शरीरमें कंपा, तन्द्रा, अधिकतर स्त्रीका सेवन, इत्यादि यह मद्यपानके व्यसनहै, जिनकी सत्पुरुषोने बडी निन्दा की है ॥ ६१ ॥

शीलबलोपेताः पानदोषेण भूयसा ।
मक्षीणनामानो जग्मुरन्धकवृष्णयः ॥ ६२ ॥

शीलतासम्पन्न, कभी क्षीण न होनेवाले अन्धक और वृष्णि मद्यदोषसेही परस्पर युद्धकर प्रभासक्षेत्रमें क्षय होगये *[देखो महाभारत वा श्रीमद्भागवत] ॥ ६२ ॥

योगीश्वरश्च भगवान्भार्गवो भृगुतुल्यधीः ।
शुक्रः पानमदात्तीव्राद्बुभुजे शिष्यमौरसम् ॥ ६३ ॥

भृगुके तुल्य बुद्धिमान् योगीश्वर भार्गव ऐश्वर्यसम्पन्न शुक्राचार्य तीव्र-मदसेही शिष्यका भोग लगागये, "यह इसप्रकारसेहै कि, जब बृह-का पुत्र कच शुक्रजीके पास मृतसंजीविनी विद्या पढने गया तब को यह बात न रुची तब उन्होंने कईबार उसको मारडाला पर चार्यने उसको ज्ञानसे प्राप्तकर जिवादिया । पीछे दैत्योंने कचको कर उसकी मद्यचुवायक शुक्रजीकोही पिलादी और जब कचका कहीं न लगा तब उन्होंने उसे अपने पेटमें जान वहीं जिवाय विद्या पढाई, वह शुक्रजीका उदर भेदकर निकला और शुक्रजीको जिवाय अपने गया" ॥ ६३ ॥

पानाक्षिप्तो हि पुरुषो यत्र तत्र प्रवर्त्तते ।
यात्यसंव्यवहार्यत्वं यत्र तत्र प्रवर्त्तनात् ॥ ६४ ॥

मद्यपानसे क्षिप्तहुए पुरुष जहाँ तहाँ प्रवृत्त होते हैं, और जहाँ तहाँ प्रवृत्तिसे वह पुरुष व्यवहारके योग्य नहीं रहते हैं ॥ ६४ ॥

कामं स्त्रियं निषेवेत पानं वा साधुमात्रया ।

* जब यदुवंशियोंको शापहुआ तब वे सबकोई दुर्वासाके शापनिवारणके निमित्त प्रभास त्रमें गये वहां जाकर मद्यपान कर मतवाले होगये और परस्पर युद्ध करने लगे और करते २ एक दूसरेको संहार करने लगे यहांतक हुआ कि, परस्पर युद्ध करते २ सब होगये एक दो उनमेंसे शेष रहेथे ।

न द्यूतमृगये विद्वान्नात्यन्तव्यसने हि ते ॥ ६५ ॥

चाहे स्त्रीका सेवन करै, और थोडी मात्राका मद्यसेवन करै परन्तु द्यूत और मृगया यह तो किसीप्रकार सेवन न करै, यह महाव्यसन है ॥ ६५ ॥

तदपनयविधिज्ञैः श्रेयसां विघ्नकारि
व्यसनमिदमुदारं सप्त चैवोपदिष्टम् ।
जनयति हि निसर्गादेकमप्याशु नाशं
किमु न भवति हन्ता यौगपद्योदयेन ॥ ६६ ॥

इसप्रकार अनीतिके प्रवृत्त करनेवाले तथा कल्याण वस्तुओंमे विघ्न करनेवाले नीतिज्ञाता महात्माओंने यह सात व्यसन कहे है अधिकाईसे यह एकही नाश कर देता है, यदि यह सब एक साथ उदय होजॉय तो नाश होनेमें सन्देहही क्या है ॥ ६६ ॥

घटयति परिभोगग्राहितामिन्द्रियाणां
श्रुतमपि विनिहन्ति श्रेष्ठतां प्रेष्ठताञ्च ।
चलयति च विभूतिं भूयसीमप्यनीचै
रपिविबुधमतीनां सप्तकोऽयं दुरन्तः ॥ ६७ ॥

इन सातोके परिभोगसे इन्द्रियोकी भोगमे प्रवृत्ति विशेष होती है और शास्त्र, श्रेष्ठता, अत्यन्त प्रकर्षता इन सबका नाश करते है । बडे बडोंकी विभूतिको भी कि, जिनकी देवताकी समान बुद्धि है, उनकोभी चलायमान करदेते है, यह साती व्यसन बडे कठिन है ॥ ६७ ॥

अरिगणा नियतं व्यसने स्थितं परिभवन्ति भवन्ति च दुश्छिदः।
अपगतव्यसनाश्च बुधा रिपून्परिभवन्ति भवन्ति च दुश्छिदः६८

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे सप्तव्यसनवर्गो
नाम चतुर्दशः सर्गः ।

शत्रुलोग निरन्तर व्यसनमें प्राप्त हुए राजाका तिरस्कार करते हैं, और स्वयं तिरस्कार नहीं पाते और जो विद्वान् व्यसनोंसे रहित हैं वह अपने शत्रुओंका तिरस्कार करके आप तिरस्कारको प्राप्त नहीं होते ॥६८॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे भाषाटीकायां सप्तव्यसनवर्गो नाम चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

पञ्चदशः सर्गः १५.

नानाप्रकारैर्व्यसनैर्विमुक्तः शक्तित्रयेणाप्रतिमेन युक्तः ।
परं दुरन्तव्यसनोपपन्नं यायान्नरेन्द्रो विजयाभिकाङ्क्षी ॥ १ ॥

अनेक प्रकारके व्यसनोंसे रहित और महाप्रभावशालिनी तीन शक्तियोंसे युक्त जीतनेकी इच्छा करनेवाला राजा बडे व्यसनोंसे युक्त शत्रुपर चढाईकी इच्छा करै ॥ १ ॥

प्रायेण सन्तो व्यसने रिपूणां यातव्यमित्येव समादिशन्ति ।
तत्रैव पक्षो व्यसनेहिनित्यं क्षमस्तुसन्नभ्युदितोऽभियायात् ॥ २ ॥

प्रायः महात्मा पुरुष व्यसनको प्राप्तहुए पुरुषपरही चढाईको कहते हैं और उसका पक्षभी नित्य व्यसनमें ग्रस्त हो तो उसपर गमन करै ॥२॥

यदा क्षमस्तु प्रसभं निहन्तुं पराक्रमादूर्जितमप्यमित्रम् ।
तदा हि यायादहितानि कुर्वन्परस्य वा कर्षणपीडनानि॥ ३ ॥

अथवा जिस समय अपने पराक्रमसे बढेहुए भी शत्रुको बलप्रकाश कर जीतनेमें समर्थ हो उस समय उस शत्रुका अहित करताहुआ कर्षण और पीडन करताहुआ गमन करै ॥ ३ ॥

सम्पन्नसस्यं विषयं परस्य यायात्प्रमृग्यं विजयाय राजा ।
सस्योपघातेन परस्य वृत्तिच्छेदः स्वसैन्योपचयश्च साधु ॥४॥

राजा विजयकी इच्छा करनेके निमित्त शत्रुके धान्यसे भरे पुरे देशकी ओर गमन करै उस धान्यके उपघातसे शत्रुकी वृत्तिका छेदन और अपनी सेनाकी वृद्धि होती है ॥ ४ ॥

विशुद्धपृष्ठः पुरतो विचिन्वन्भयप्रदेशान्परकर्मवेदी ।
सुवीवधासारविशुद्धमार्गां विशेद्धरित्रीं द्विषतोऽप्रमत्तः ॥ ५ ॥

रक्षित पृष्ठभागवाला, आगेका मार्गभी शोधन किये हुए दूसरे शत्रुके कर्मका जाननेवाले भयस्थानोंकी खोज करता हुआ अच्छे सेनाके फैलावसे तथा धन धान्य सम्पन्न होनेसे विशुद्ध मार्गवाली शत्रुकी भूमिमें अप्रमत्त होकर प्रवेश करै ॥ ५ ॥

समे प्रदेशे विषमे च भूमेर्निम्ने स्थले वा सुमुखेन यायात् ।
अनातुरःसन्नभयोहि विद्वान्सन्नद्धगुल्मो विहितान्नपानः ॥ ६ ॥

समान विषम और नीचे भूमिके स्थानोंमें सन्मुख व्याकुलता रहित होकर गमन करै और विद्वान् भयकी प्रतिक्षण शोध लेता हुआ सन्नद्धता युक्तही झाडी आदियोंमें स्थित होकर अन्नपान करै ॥ ६ ॥

ग्रीष्मे प्रभूताम्बुवनेन यायान्निवासनार्थं करिणां यथा तु ।
ऋतेऽम्भसोग्रीष्मकृतात्प्रतापाद्भवन्तिकुष्ठानिमतङ्गजानाम् ॥ ७ ॥

गरमीके दिनोंमें हाथियोंके सुख देनेके निमित्त प्रभूत जलवाले स्थानोंमें हाथियोंको निवास देताहुआ गमन करै, यदि अच्छा जल न मिले तो, गरमीके अधिक तापसे हाथियोंको कुष्ठ होजाते है ॥ ७ ॥

स्वस्थक्रियाणामपि कुञ्जराणामुष्मा शरीरेष्वभिजाज्वलीति ।
आयासयोगेन हि सम्प्रवृद्धः प्रसह्य हन्ति द्विरदान्प्रतापः ॥ ८ ॥

स्वस्थदशामे भी हाथियोंके शरीरमें गरमी प्रज्वालित रहती है, और परिश्रम करनेसे तो वह धूपकी गरमीके बढनेसे बलसे हाथियोंको नष्ट करती है ॥ ८ ॥

सर्वाणि सत्त्वानि खलूष्मकाले विनाम्बुना यान्तिपरामवस्थाम् ।
अन्धत्वमुष्णप्रवितप्तकायाःप्रयान्ति सद्यःकरिणोऽपिबन्तः॥ ९॥

सबही जीव गरमीके दिनोंमें विनाजलके पराभव होतेहैं और हाथियों को जल न मिले तो गरमीसे तप्तशरीर होनेसे अन्धे होजातेहैं ॥ ९ ॥

सुगन्धिदानच्युतशीकरेषु दन्ताभिघातस्फुटितोपलेषु ।
गजेषु नीलाभ्रसमप्रभेषु राज्यं निबद्धं पृथिवीपतीनाम् ॥ १०॥

सुगन्धियुक्त मदके चुआमें तथा जलको उछालने, दांतोंके ताडनसे पाषाण विदीर्ण करनेवाले, नीले मेघकी समान प्रभावाले हाथियोंमें राजाका राज्य बँधाहुआ है ॥ १० ॥

सुकल्पितः संयुगदृष्टमार्गः स्वधिष्ठितो धीरतरेण पुंसा ।
तुरङ्गमानां परिकल्पितानामेको गजःषष्टिशतानि हन्ति॥ ११॥

अच्छीप्रकारसे शिक्षित संग्रामस्थलको देखेहुए, धैर्यवान् पुरुषसे अधिष्ठित एक हाथीही युद्धमें छः सौ शिक्षित घोडोंके मारनेमें समर्थ होताहै ॥ ११ ॥

जले स्थले च द्रुमसङ्कटे च साधारणे वा विषमे समेऽपि ।
प्राकारहर्म्याद्रिविदारणे च ध्रुवं जयो नागवतां बलानाम्॥ १२॥

जल, स्थल, वृक्षोंके संकटमें, साधारण, विषम वा समस्थानमें तथा परिखा महल पर्वतके विदारणमें हाथियोंकी सेनासेही जय होतीहै ॥१२॥

तस्माद्यतो भूरिजलस्तु पन्था वनोदपानोपचितो विशङ्कः ।
तेनाभियायाज्जनयन्प्रतापं शनैः शनैरश्रमयन्बलानि ॥ १३ ॥

इसकारण जिस मार्गमें अधिक जलहो तथा घने अन्नपानादिसे युक्त और शंका रहित हो उसी मार्गसे होकर अपने प्रताप प्रगट करता हुआ और सेनाको विश्राम देता हुआ शनैः शनैः गमन करै ॥ १३ ॥

ाभ्युन्नतानामणुरप्युदारं पश्चात्प्रकोपं जनयेदरीणाम् ।
श्चाप्रमत्तः प्रसमीक्ष्य यायान्न नाशयेद्दृष्टमदृष्टहेतोः ॥ १४ ॥

उन्नत हुए शत्रुपर स्वय लघु राजा होकर भी विशेष क्रोध प्रगट करे, और सावधान होकर उस शत्रुपर गमन करे उसकी चालढालको परखे और अदृष्ट पदार्थ [जो वस्तु अदृष्टके आधीनहै] के निमित्त दृष्टपदार्थका नाश न करे ॥ १४ ॥

पश्चात्प्रकोपः पुरतः फलञ्च पश्चात्प्रकोपश्च तयोर्गरीयान् ।
रन्ध्रंहि तद्विप्रकृता महत्त्वं नयन्ति तस्मात्प्रसमीक्ष्य यायात १५

पीछे कोप पहले फल इन दोनोमे पीछे कोप करनाही श्रेष्ठ है, शत्रुके अपकारमे छिद्रही वडी वस्तुहै इसकारण उस छिद्रको देखकरही चले १५॥

पुरश्च पश्चाच्च यदा समर्थस्तदाभियायान्महते फलाय ।
पुनः प्रसर्पन्नविशुद्धपृष्ठः प्राप्नोति तीव्रं खलु पार्ष्णिभेदम्॥ १६ ॥

जब आगे और पीछेसे समर्थ और रक्षित हो तब विजयरूपी महाफलकी इच्छासे गमन करे और पृष्ठभागकी शुद्धि विना गमन करनेसे उस पृष्ठभागके वडे भारी भेदको प्राप्त होताहै ॥ १६ ॥

यास्यन्परो रक्ष्यमनेकवर्गमनेकमुख्यञ्च बलं निदध्यात् ।
अनेकमुख्यस्य हि चेकमत्यमनेकमत्यं द्विषतामभेद्यम् ॥ १७॥

जब गमन करे तो आगे भी अपने अनेक रक्षकवर्गोको नियुक्त करे, और पीछे भी अनेक मुख्यसैनिकोंको स्थापनकरे,अनेक मुख्योंकी एक मति जयके निमित्त होती है और उन एकमतिवालोको अनेक मतिवाला शत्रु भेदित नही करसता ॥ १७ ॥

अवश्ययातव्यतयोद्यतः सन्पश्चात्प्रकोपाहितया न शङ्का।
सेनापतिश्चाप्यथवा कुमारं बलैकदेशेन पुरो निदध्यात् ॥ १८॥

अवश्य चढाईके निमित्त उद्यत हुएको पीछे क्रोधसे अहितकी शका

न करनी, अपने सेनापति वा कुमारको सेनाके एक देशमें आगे स्थापन करै ॥ १८ ॥

आभ्यन्तराद्बाह्यकृताच्च दोषादाभ्यन्तरस्त्वेव तयोर्गरीयान् ।
आदाय गच्छेदबहिःप्रचारान्बाह्यांश्चकृत्वाविहितानुकल्पान् १९

आभ्यन्तर (भीतरी) और बाह्य यह दो प्रकारके दोष हैं इनमें भीतरी दोषही बडा है, इसको दूरकर और इन कोपवालोंको संग लेकरही बाहर चढाईको चलै और बाह्यदोषको भी यथायोग्य विचारसे शोधै ॥ १९॥

पुरोहितामात्यकुमारकुल्याः सेनाभिगोप्तार इमे प्रधानाः ।
एषां हि मन्त्रोद्यतमप्रकोपमन्तःप्रकोपं समुपादिशन्ति॥ २० ॥

पुरोहित, मन्त्री, कुमार, कुटुम्बी यह सेनाके रक्षक प्रधान जन हैं, सम्मतिमें इनका कोप न होना चाहिये, इन्हींके क्रोधको अन्तःप्रकोप (भीतरी) क्रोध कहते हैं ॥ २० ॥

राष्ट्रान्तपालाटविकाभिसीम्नां बाह्यप्रकोपोऽन्यतमः प्रकोपः ।
उत्पद्यमानो निपुणप्रचारैस्तम्मन्त्रिभिः सम्यगुपाददीत॥ २१॥

राज्यंकी सीमाके पालन करनेवाले तथा आरण्यरक्षक, सीमारक्षक, आदिका कोप बाह्यक्रोध कहाता है, इसको भी निपुण दूत और अच्छे मन्त्रियोंसे दूर करावै ॥ २१ ॥

सामादिभिः संशमयेत्प्रकोपं परस्परावग्रहभेदनैश्च ।
तथापि धीरः शमयेत्प्रकोपं यथा भजेरन्न परान्प्रतप्ताः ॥२२॥

परस्पर क्लेश भेदसे जो कलेश हुआ हो उसको सामादि उपायोंसे शान्त करै और बुद्धिमान् उनके क्रोधको इसप्रकारसे शान्त करै जिससे दुखी हो शत्रुओंसे न मिलजायँ ॥ २२ ॥

मनुष्ययुग्यापचयक्षयो हि हिरण्यधान्यापचयव्ययस्तु ।
तस्मादिमान्नैव विदग्धबुद्धिः क्षयव्ययायासकरीमुपेयात्॥ २३॥

मनुष्य और पशुआदिका ह्रास क्षय कहाता है सुवर्णादिका नाश व्यय कहाता है, जिसमें दोनों प्रकारका क्षय और व्यय होता दीखै अर्थात् जिस युद्धमें प्राणियोंका विशेष संहार और द्रव्यका विशेष व्ययहो राजाको वह कार्य न करना चाहिये राजाको उचित है कि, उस कार्यको रोकदे॥२३॥

अवश्यनिष्पत्तिमहाफलाढ्यामदीर्घसूत्रां परिणामकल्पान् ।
कामं व्ययायासकरीमुपेयान्न त्वेव जातु क्षयदोषयुक्ताम्॥ २४ ॥

परिणाम अर्थात् कार्यके अन्तिम फलके भलीभाँति देखनेवाले आलस्य हीन पुरुषोंको इन वस्तुओंकी प्राप्ति महाफलके निमित्त होती है इनका व्यय तो होताही है पर क्षयदोष युक्त इनका व्यय न करे, जिस व्ययसे कुछभी लाभ न हो वह क्षय दोषयुक्त है ॥ २४ ॥

वस्तुष्वशक्येषु समुद्यमश्चेच्छक्येषु मोहादसमुद्यमश्च ।
शक्येषु कालेन समुद्यमश्च त्रिधैव कार्यव्यसनं वदन्ति ॥२५॥

कार्यके भी तीन प्रकारके व्यसन होते है, अशक्य वस्तुकी प्राप्तिका उद्यम करना और प्राप्त होनेयोग्य वस्तुका मोहसे उद्यम न करना और शक्य वस्तुमे काल करके उद्यम करना ॥ २५ ॥

कामोऽक्षमा दक्षिणतानुकम्पा ह्रीः साध्वसंक्रौर्यमनार्यता च ।
दम्भोऽभिमानोऽप्यतिधार्मिकत्वं दैन्यं स्वयूथस्य विमाननञ्च२६

काम, अक्षमा, चतुराई, दया, लज्जा, क्रोध, क्रूरता, अनार्य्यता, दंभ (पाखण्ड) अहंकार, अतिधार्मिकता, दीनता अपने यूथका तिरस्कार२६॥

द्रोहो भयं शश्वदुपेक्षणञ्च शीतोष्णवर्षाप्रसहिष्णुता च ।
एतानि काले समुपाहितानि कुर्वन्त्यवश्यं खलु सिद्धिविघ्नम्२७

द्रोह, भय, निरन्तर उपेक्षा करना, शीत, गर्मी, वर्षा इनका अत्यन्त सहना यह समयपर प्राप्त हुई कार्यसिद्धिमें अवश्य विघ्न करते है ॥२७॥

निजोऽथ मैत्रश्च समाश्रितश्च सम्बन्धजः कार्यसमुद्भवश्च ।

भूतो गृहीतो विविधोपचारैः पक्षं बुधाः सप्तविधं वदन्ति ॥ २८ ॥

अपना, मित्रका, समान आश्रयवालेका, सम्बन्धवालेका, कार्यकी प्राप्तिसे हुआ, तथा व्यतीत हुआ और अनेक उपचारोंसे ग्रह किया हुआ ऐसा सात प्रकारका पक्ष पंडितजन कहते हैं ॥ २८ ॥

सदानुवृत्त्या गुणकीर्त्तनेन निन्दासहत्वेन च रन्ध्रगुप्त्या ।
तदर्थशौर्योद्यमसत्कथाभिःपक्षोऽनुरागी स हि वेदितव्यः ॥ २९ ॥

सदा अपने अनुकूल रहनेवाला, गुणकीर्तन करनेवाला, निन्दाको न सहनेवाला, रहस्यको छिपानेवाला और अपने मित्रके निमित्त सत्कथायुक्त रहनेवाला, शूरता और उद्यमवाला अनुरागी अर्थात् अपना हितैषी पक्षजानना चाहिये ॥ २९ ॥

कुलीनमार्यं श्रुतवद्विनीतं मानोन्नतं सभ्यमहार्यबुद्धिम् ।
कृतज्ञतोर्जामतिसत्त्वयुक्तं सद्वृत्तपक्षं खलु तञ्च विद्यात् ॥ ३० ॥

कुलीन, आर्य्य, शास्त्रसम्पन्न, विनीत, मानसे उन्नत, सभ्य, स्थिरबुद्धि कृतज्ञ, अतिबलसम्पन्न पक्षको जाने कि, यह हमारा सदाचरणी पक्षहै ॥ ३० ॥

उद्योगमेधाधृतिसत्त्वसत्यत्यागानुरागस्थितिगौरवाणि ।
जितेन्द्रियत्वंप्रसहिष्णुताह्रीःप्रागल्भ्यमित्यात्मगुणान्वदन्ति ३१

उद्योग, विचार, शील, बुद्धि, धारणा, सत्व, सत्य, त्याग, अनुराग, स्थिति, गौरव, जितेन्द्रियता, सहनशीलता, लज्जा और प्रगल्भता यह अपने आत्माके गुण हैं ॥ ३१ ॥

मन्त्रस्य शक्तिं सुनयोपचारं सुकोषदण्डौ प्रभुशक्तिमाहुः ।
उत्साहशक्तिं बलवद्विचेष्टां त्रिशक्तियुक्तो भवतीह जेता ॥ ३२ ॥

मंत्रकी शक्ति, सुनीतिका उपचार, सम्यक्प्रकारके कोष दण्ड यह प्रभुशक्ति कहाती है, इसमें चेष्टा करानेमें उत्साहशक्ति विशेष बल सम्पन्नहै, तीनों शक्तियुक्तही जयशीलता होतीहै ॥ ३२ ॥

ाक्ष्यं सुदाक्ष्यं व्यसनेष्वदैन्यमुत्साहसम्पत्स्वतिधीरता च ।
ात्यन्तिकी शास्त्रसमुद्भवा च सांसर्गिकी धीःपरिणामिनी च ३३

शीघ्रकारिता, अन्छी चतुराई, व्यसनोंमें दीनता न होनी, उत्साह सम्पत्तिकी प्राप्तिमें अतिधीरता, अत्यन्त शास्त्रानुसारिणी, संसर्गसे प्रगट होनेवाली, तथा परिणामवाली बुद्धि ॥ ३३ ॥

उत्साहसत्त्वाध्यवसायचेष्टा दार्ढ्यं च कर्मस्वतिपौरुषञ्च ।
अरोगता कर्मफलोपपत्तिर्दैवानुकूल्यं हि निराधिता च ॥ ३४ ॥

उत्साह, सत्य, अध्यवसाय (कार्यका उद्योग) की चेष्टा, दृढता कर्ममें अतिपुरुषार्थ, अरोगता, कर्मफलकी प्राप्ति, देवानुकूलता, निराधिता, हृदयकी व्यथासे रहित होना ॥ ३४ ॥

पक्षादिदानेन गृहीतकोपः पक्षादिहीनं रिपुमभ्युपेयात् ।
इति प्रसर्पन्नियतं समुद्रप्रक्षालितां तां लभते धरित्रीम् ॥ ३५ ॥

पक्षादिके दानसे कोप ग्रहण किये हुए, पक्षादिकी सम्पत्तिसे हीन शत्रु-पर चढाई करे, इसप्रकारसे नियमपूर्वक गमन करता हुआ समुद्रपर्यन्त प्रक्षालित कीहुई पृथिवीको प्राप्त होताहै ॥ ३५ ॥

कालो गजानां सजलाभ्रजालो यातुं तदन्यश्च तुरङ्गमानाम् ।
नात्युष्णवर्षोष्णतुषारयुक्तः संपन्नशस्यस्त्विति कालसम्पत् ३६

जिस समय आकाशमें मेघसमूह सजल हों, वह समय हाथियोंके चल-नेका है इससे दूसरा घोडोंके गमनका है, जिस समय गरमी वर्षा तुषार विशेष न हो और खेती धान्यसम्पन्नहो, यह कालकी सम्पत्ति कहीहै ३६॥

रात्रावुलूको विनिहन्ति काकं काकोऽप्युलूकं रजनीव्यपाये ।
इति स्म कालं प्रसमीक्ष्य यायात् काले भवन्तीह समीहितानि ३७

रात्रिमें उल्लूक कौओंको मारताहै, और रात्रिके व्यतीत होनेमें काक

मारतेहैं इसप्रकार समयको देखकर ही चढाई करै, समयमेंही सफल होतेहैं ॥ ३७ ॥

क्रमाकर्षति कूलसंस्थं श्वानञ्च नक्रः सलिलाभ्युपेतम् ।
गच्छमानो ध्रुवमभ्युपैति देशस्थितः कर्मबलोपभोगम् ३८॥

किनारेपर स्थित होनेसे श्वान नाकेको खैंचलेताहै और जलमें नाका नको खैंचलेताहै, जो देशकालमें स्थितहै वह अवश्यही कर्म और बलके भोगको प्राप्त होताहै ॥ ३८ ॥

मं तुरङ्गैर्विषमं च नागैस्तथा जलाढ्यं स महीधरं च ।
नागावृतं पक्षबलानुपेतैर्यथाबलञ्च प्रसमीक्ष्य मिश्रम् ॥ ३९॥

घोडोंसे समस्थान, हाथियोंसे विषमस्थान, तथा सजल और पर्वतोंके स्थान गाहेजाते हैं इसकारण हाथी और अपने पक्षबलसे मिश्रित होकर यथा बल देखभाल करके ॥ ३९ ॥

मरुप्रगाढं पतति स्म तोये ग्रीष्मेऽप्यनूपोदककक्षदुर्गम् ।
मिश्रञ्च संवीक्ष्ययथासुखञ्च गच्छेन्नरेन्द्रोविजयाय देशम्४०॥

मरुदेशमें जलगिरनेके समयमें, अनूपदेश, जलवालेदेश कक्षदेश, दुर्ग इनपर गरमियोंमें गमन करे और मिश्रदेश देख जिसमें अपनी अनुकूलताहो उसीप्रकार देशपर विजय करनेको गमन करै ॥ ४० ॥

न चातितोयं न च तोयहीनं युक्तं च सम्यग्यवसेन्धनेन ।
उपेत्य मार्गं बहुतक्षयुक्तः सुखप्रयाणैरिपुमभ्युपेयात् ॥ ४१ ॥

जिसमें न बहुत जलहो न कि अत्यन्त जलसे हीन हो धान्य और काष्ठसे संयुक्तमार्गमें बहुतसे बढई आदि वृक्षकाटनेवाले लोग साथ लिये (सफर-मैनाकी पलटन) संयुक्त शत्रुपर चढाई करै, जिस मार्गमें गमन करनेसे सुख मिले उसी मार्गको गमन करै ॥ ४१ ॥

सुविविधासारमुपेततोयं विश्वासिभिः कान्तजलं विशुद्धम् ।
तन्मात्रमेव द्विपतामुपेयायस्मान्न कुर्यादपयानमार्तः ॥ ४२ ॥

भार ढोनेको वहँगी भुसई धन धान्य सहित जलके समीप उपस्थित होकर उस जलको विश्वासी पुरुषोंके द्वारा शुद्धकरा देखै, इसप्रकारसे शत्रुके प्रति गमनकरे जिससे कि, मार्गमें व्याकुलता प्राप्त नहो आर्त न होजाय४२॥

ये दूरयात्रां सहसा विशन्ति मूढा रिपूणामविचार्य भूमिम् ।
ते यान्ति तेषामचिरेण खड्ग धारापरिष्वङ्गमयत्नसाध्याः॥ ४३॥

जो मूर्ख शत्रुकी भूमिको विना विचारे सहसा दूर यात्रामें प्रवेश कर जाते है, वे शीघ्रही अयत्नसाध्य शत्रुकी खड्गधाराको प्राप्त होते हैं॥४३॥

मार्गे च दुर्गे विनिविष्टसैन्यो विधाय रक्षां विधिवद्विधिज्ञः ।
सन्नद्धपार्श्वस्थितवीरयोधःसेवेतसाध्वीं सुखयोगनिद्राम्॥ ४४॥

मार्ग और दुर्गमे सेना रखकर, विधिपूर्वक विधिका जाननेवाला रक्षा करके पार्श्वभागको दृढ किये वीर योधाओंको साथ लिये श्रेष्ठ सुखवाली योगनिद्राको सेवन करै जैसे योगी क्षणमे जागजाता है, इसप्रकार क्षणमे दूरहोनेवाली निद्राका सेवन करै॥ ४४ ॥

भेमतुरङ्गद्विरदेन्द्रहेषां घण्टास्वनासादितकर्णरन्ध्रः ।
तदन्तरा च प्रतियोधवृत्तां के जाग्रतीत्यादरमाद्रियेत ॥ ४५॥

भौरे घोडे हाथियोके शब्द करने तथा घटेके शब्द कानोमें आनेसे उस समय योधाओंके प्रति जो जागते है, उनको आदर सन्मान करना चाहिये ॥ ४५ ॥

ततः प्रबुद्धः शुचिरिष्टदेवः श्रीमद्विभूषोज्वलितः प्रहृष्टः ।
सेव्येत मन्त्रिप्रवरैर्यथावत्पुरोहितामात्यसुहृद्गणैश्च ॥ ४६ ॥

उसी समय आपभी उठकर शौचादिसे निवृत्त हो स्नानकर इष्टदेवका पूजन स्मरणकर भूषणोंका धारण कर श्रीसम्पन्न प्रसन्नमुख, मन्त्रिश्रेष्ठ पुरोहित, अमात्य सुहृद्गणोंसे वेष्टित हो ॥ ४६ ॥

कर्त्तव्यतां तैः सह संविचार्य यानं समास्थाय विचित्रयानः ।
कुलोद्गतैःशस्त्रिभिरिष्टतुल्यैर्बहिर्न्निरीयात्परिवारितःसन् ॥४७॥

उनके सहित कर्तव्यताका विचारकर विचित्र गतिवाले यानमें सवार हो कुलपरंपरासे प्राप्त अपने इष्ट शस्त्रधारियोंके साथ बाहर निकलै॥४७॥

पश्येन्नृपो हस्तिरथाश्वचर्यां सामूहिकं योधगणं पृथक् च ।
विवक्षितांश्च द्विरदेन्द्रमुख्यांस्तुरङ्गमांश्चापि विधानयुक्तान्४८॥

और हाथी रथ घोडोंकी परिचर्य्या तथा योधाओंके समूहोंको पृथक् २ देखे, तथा अपने विवक्षित मुख्य गजराज और विधानयुक्त घोडोंकाभी निरीक्षण करै ॥ ४८ ॥

सुखोपगम्यः स्मितपूर्वभाषी प्रियं वदेद्वृत्त्यधिकं च दद्यात् ।
प्रियेण दानेन च सङ्गृहीतास्त्यजन्ति भर्त्तर्यपिजीवितानि॥४९॥

उस समय राजाकी ऐसी वृत्ति हो कि जानेवाले सुखसे राजाके समीप पहुँचसकैं मुसकाते हुए वचन बोलै प्रियवचन बोलै वृत्ति अधिकदे, प्रिय-दानसे संगृहीत हुए सेवक राजाके निमित्त प्राणभी त्यागन कर देते हैं४९

रथाश्वनौकुञ्जरयानयोग्यो नित्यक्रियः स्याद्धनुषि प्रगल्भः ।
सुमेधसां कर्मणि दुष्करेऽपि नित्यक्रिया कौशलमादधाति५०॥

रथ घोडे हाथीकी सवारीकी योग्यतामें नित्य तत्पर प्रगलभतासे धनुष विद्याका नित्य अभ्यास करै । कारण कि, नित्यका अभ्यास बुद्धिमानोंको दुष्करकर्म करनेमें भी कुशल करदेता है ॥ ५० ॥

सन्नद्धमुच्चैर्द्विपमास्थितः सन्सन्नद्धसैन्यानुगतोऽविकुर्वन् ।
सामन्तदूतेन हि साधुमन्त्रः प्रवीरयोधान्तरितेन यायात्॥५१॥

स्वयं तयार होकर ऊँचे हाथीपर चढाहुआ, तयारसेनासे सेवितहुआ,विकारे रहित, अच्छे मन्त्रसम्पन्न सामन्त और दूतोंको साथ लिये बडे वीर योधाओंके साथ गमन करै ॥ ५१ ॥

आलोकयद्बुद्धिगुणोपपन्नैश्चरैश्च दान्तैश्च परापचारम् ।
एतैर्विमुक्तो भवति क्षितीन्द्रो जनैरनेत्रैश्च समानधर्म्मा ॥५२॥

बुद्धिके गुणोंसे युक्त चतुर दूतोंके द्वारा शत्रुओंका अपचार (छिद्र) देखै, यदि राजा ऐसे दूतोंसे रहित हो तो अन्धे मनुष्यके समान होताहै॥५२॥

विलोभयन्किञ्चिदपि प्रयच्छन्कुर्वीत मित्रं द्विषतो न पानम् ।
राष्ट्रादभीक्ष्णं द्विषतःप्रपण्यं पण्यैर्हितन्नालिकयाऽऽददीत॥५३॥

लोभ देकर, कुछ पहले देकर, शत्रुकी तरफवालोंको अपनावे, परन्तु उनके साथ खानपानादि न करै और शत्रुके राज्यसे बिकनेवाले सब नालिक [तोप बन्दूक] शस्त्रोंको खरीदले ॥ ५३ ॥

उपक्रमं वाञ्छितमाशु कुर्याद्दूतोपयानात् क्रियमाणसन्धिः ।
स चेद्विसन्धिर्न हि तत्र भेदःकृतो भवत्यात्मसमुच्छ्रयश्च॥५४॥

शीघ्रही अपने वांछित उपक्रमको करै, सन्धिकी इच्छा करताहुआ उसके समीप दूत भेजे, और उसके द्वारा कार्यसाधन करावै, यदि वह सन्धिमें न आवै तो उसमें अपने कल्याण और उन्नतिके निमित्त भेद करै ॥ ५४॥

दौर्गान्पथिष्वाटविकान्तपालान् संश्लेषयेद्दानवता च साम्ना ।
विरुद्धदेशेषु हि तन्निरोधे ते चाऽस्यमार्गोपदिशो भवन्ति॥५५॥

दुर्गमें रहनेवाले मार्ग और जंगलकी रक्षावाले इनको दान और साम वचनोंसे अपनी ओर मिलाले, यदि विरुद्धदेश और निरोध (रोक) हो जाय तो यही लोग इस राजाको मार्ग दिखानेवाले होतेहै ॥ ५५ ॥

अकारणादेव हि कारणाद्वा य एव कश्चित्पुरुषोऽरिसेवी ।
निजश्चविश्लिष्टउपेतशस्त्र आयाति यस्तस्य गतिं प्रपश्येत्॥५६॥

अकारण या किसीकारणसे जो पुरुष शत्रुकी सेवा करनेवालाहै, और वह शस्त्रलिये हुए यदि अपनी ओर आ मिले तो उसकी चालपर विशेष ध्यान देनाचाहिये ॥ ५६ ॥

आरिप्सुना मन्त्रबलान्वितेन प्रागेव कार्यो निपुणं विचारः ।
दोष्णां बलान्मन्त्रबलं गरीयःशक्रोऽसुरान्मन्त्रबलाद्विजिग्ये५७

शत्रुके जीतनेकी इच्छा करनेवाले मंत्रबलसे सम्पन्न राजाको भलीभाँति विचार करना चाहिये कि इन्द्रने मंत्रके बलसेही शत्रुओंको जीता है॥५७॥

मनीषया निर्मलया विलोकितं फलाय कर्मोद्यममास्थितःपरम् ।
अकालहीनं नयवित्समाचरेत्फलं ह्यकाले नियतं व्युदस्यति५८

निर्मलबुद्धिसे देखेहुए फलके लिये कर्मके उद्यममें स्थितहुआ नीतिमान् अकालमें कार्य न करे कारण कि, अकालमें अवश्यही फल नष्ट होताहै॥५८॥

प्रभावितानां श्रुतशौर्यशालिनां यथावदालोकितमार्गचारिणाम् ।
निकामदैवी द्युतिरुन्नतात्मनां भुजङ्गदीर्घेषु भुजेषु लम्बते॥५९॥

प्रभावसंयुक्त शास्त्रशीलसम्पन्न यथावत् दूतोंका मार्ग देखनेवाले कान्तिसे दीप्तिमान् आत्मावालोंकी सर्पके समान दीर्घ भुजाओंमें अत्यन्त दैवीकान्ति प्राप्त होतीहै ॥ ५९ ॥

समुदितनरसम्पद्भूरिसम्पन्नसस्ये
विगतसलिलपङ्के काल उद्युक्तवृत्तिः ।
कुसुमितसहकारश्रीज्वलत्कानने वा
नरपतिररिभूमिं साधु गच्छेज्जयाय ॥ ६० ॥

जिससमय मनुष्यगण सम्पत्तिसम्पन्नहों, खेतोंमें धान्यकी अधिकाई हो, जल और कीचरहित होनेसे मार्ग स्वच्छहों आम मौरारहे हों, वनोंमें शोभा होरही हो, उससमय राजा उस शत्रुकी भूमिमें जयके निमित्त गमन करै६०

इति नरपतिराहितादरः सन्परमभियोक्तुमनाः समुत्पतेत ।
इति हतविषयोपसेवमानो नियतमरातिरुपैति गोचरं स्वम् ६१॥

इति श्रीका०नी०यात्राभियोगदर्शनं नाम पञ्चदशः सर्गः १५

इसप्रकार सेनादि आदरको प्राप्तहुआ राजा शत्रुपर जीतनेकी इच्छासे लड़ाईकरै, और विषयोंसे रहितहुआ मन्त्रियोंसे सेवित अवश्यही शत्रुको आधीन होकर सन्मुख हुआ देखताहै ॥ ६१ ॥

इति श्रीकामन्दकीय नीतिसारे भाषाटीकाया यात्राभियोगदर्शन नाम पञ्चदश सर्गः ॥ १५ ॥

षोडशः सर्गः १६.

यायाद्वैरिपुराभ्याशं भूभागे साधुसम्मते ।
स्कन्धावारनिवेशज्ञः स्कन्धावारं निवेशयेत् ॥ १ ॥

इसप्रकार साधुजनसम्मत शत्रुके पुरके समीपकी भूमिमे प्राप्तहोकर छावनिके स्थान जाननेवाला वहा अपनी छावनी डाले ॥ १ ॥

चतुरस्रं चतुर्द्वारं नातिविस्तारसङ्कटम् ।
महाप्रतोलीप्राकारं महापरिखया वृतम् ॥ २ ॥

चौकोन और अच्छे चार द्वार जिसमे न बहुत विस्तारहो न बहुत घनिष्टताहो बडी गली चारोंओरकी चार दिवाली, और महापरिखासे सयुक्त ॥२॥

शृङ्गाटमर्द्धचन्द्रं वा मण्डलं दीर्घमेव च ।
भूमिप्रदेशसामर्थ्यादागारमुपकल्पयेत् ॥ ३ ॥

शिघाडेकी समान वा अर्धचन्द्राकार वा मण्डलाकार दीर्घ भूमि और देशकी सामर्थ्यसे स्थानकी कल्पना करै॥ ३ ॥

विविक्तैश्च विभक्तैश्च शृङ्गैरन्वितमायतैः ।
गुप्तकक्षं पटाकारैर्महामार्गसमावृतम् ॥ ४ ॥

एकान्त तथा विभागको प्राप्त ऊँचे २ कँगूरोंसे युक्त गुप्त कक्षावाला, पटाकार महामार्गोंसे विराजमान ॥ ४ ॥

तस्य मध्ये मनोह्लादि महामौलबलावृतम् ।
अन्तःकोषगृहोपेतं कारयेद्राजमन्दिरम् ॥ ५ ॥

उसके मध्यमें मनको हरण करनेवाले पुस्तैनी महामन्त्रियोंसे सम्पन्न और भीतरी कोषग्रहसे संयुक्त राजमन्दिर बनवावै ॥ ५ ॥

मौलभुक्तं श्रेणिसुहृद्द्विषदाटविकं बलम् ।
राजहर्म्ये समादृत्य क्रमेण विनिवेशयेत् ॥ ६ ॥

पुस्तौनी नौकरोंसे व्याप्त सुहृदोंकी अधिकाईसे शोभित १२ प्रकारके अटवियों (जंगलके रहने वालों) को संग्रह करके राजमहलके समीप आदरके साथ इनको प्रवेश करावै ॥ ६ ॥

अन्ते चागणितान्क्रूराँल्लुब्धकान्दुष्टकर्मणः ।
पर्याप्तवेतनान्स्वाप्तान्मण्डलेन निवेशयेत् ॥ ७ ॥

और उसके समीपमें अगणित क्रूर लुब्धक दुष्कर्मा व्याधोंको परीक्षा करके कि यह सत्यवादी हैं, अच्छी वृत्ति देकर मण्डलमें स्थित करै ॥ ७ ॥

हस्तिनो लब्धनामानस्तुरङ्गास्तु मनोजवाः ।
गृहोपकण्ठे नृपतेर्वसेयुः स्वाप्तरक्षिताः ॥ ८ ॥

अच्छेपुरुषोंसे रक्षित हुए मान पाये हुए हाथी, और मनके समान वेगवान् घोडे राजाके मन्दिरके समीप निवास करैं ॥ ८ ॥

यामवृत्त्या सुसन्नद्धं रात्रिन्दिवमुदायुधम् ।
अन्तर्वंशिकसैन्यञ्च तिष्ठेद्राजाऽभिगुप्तये ॥ ९ ॥

पहर पहरभरकी नौकरी लगाकर रात दिन अस्त्र शस्त्र ग्रहण किये हुए भीतरीसेनाके लोग सेनाके मध्यमें सेना और राजाकी रक्षा करैं ॥ ९ ॥

युद्धयोग्यो महादन्ती सन्नद्धः साध्वधिष्ठितः ।
तिष्ठेन्नरपतेर्द्वारि वेगवांश्च तुरङ्गमः ॥ १० ॥

युद्धके योग्य महागजराज कसाहुआ स्थितरहै, और एक वेगवान् घोडा प्रतिक्षण कसकसाया खडा रहै [यहभी बारी २ से लाये जाय] तीन घटेके पीछे दूसरा घोडा इसीप्रकारसे आते जाते रहै ॥ १० ॥

सैन्यैकदेशः सन्नद्धः सेनापतिपुरःसरः ।
प्रयत्नवान्परिपतेन्मण्डलेन वहिर्निशि ॥ ११ ॥

और सेनापतिके सहित सेनाका कुछ भाग भी तयार रहै, वह रात्रिके समय यत्नपूर्वक मण्डलसे वाहर आवै ॥ ११ ॥

परसैन्यप्रचारञ्च सन्नद्धाः शीघ्रपातिनः ।
वाताश्विका विजानीयुर्दूरसीमान्तपातिनः ॥ १२ ॥

शत्रुकी सेनाका पता लगानेके निमित्त अस्त्रशस्त्र बाधकर तयारहुए शीघ्र गामी पवनके द्वारा लक्ष्य जाननेवाले सेनाके लोग दूर सीमापर रहनेवाले राजाकी सेनाके पडावको जानकर उसपर आक्रमण करै ॥ १२ ॥

तोरणाबद्धमाल्येषु यन्त्रवत्सु पताकिषु ।
द्वारेषु परमां गुप्तिं कारयेदाप्तकारिभिः ॥ १३ ॥

तोरणमें माला बँधे यन्त्र और पताकासम्पन्न द्वारोमें आप्त पुरुषोंद्वारा रक्षाका प्रबन्ध करै ॥ १३ ॥

निर्गच्छेच्च विशेच्चापि सर्व एवोपलक्षितः ।
तिष्ठेयुः परदूताश्च राजशासनगोचराः ॥ १४ ॥

सबसे देखाहुआ उस द्वारसे निकले और उसमें प्रवेश करै, और राजशासनके जाननेवाले उस स्थानपर (श्रेष्ठ) दूत स्थित रहै ॥ १४ ॥

वृथाकोलाहलाद्धास्याद्द्यूतात्पानाच्च वारितः ।
सज्जोपकरणस्तिष्ठेत्सर्वकार्योन्मुखो जनः ॥ १५ ॥

वृथा कोलाहल न होनेदे द्यूत और पानका सर्वथा निषेध करै, और कार्यके करनेमें तत्पर पुरुष सज्ज हुएही स्थित रहै ॥ १५ ॥

बहिःखातात्स्वसैन्यानां मुक्त्वा सञ्चारमायतम् ।
परसैन्यविनाशार्थं सर्वां भूमिं विनाशयेत् ॥ १६ ॥

खाईसे बाहर अपनी सेनाके सञ्चारका बड़ा मार्ग छोडकर शत्रुसेनाके नाश करनेके निमित्त शेष वहांकी सब भूमिको नष्ट भ्रष्ट करदे, अर्थात् ऊँची नीची खाई खन्दक और कांटोंसे सम्पन्न करदे ॥ १६ ॥

क्वचित्कण्टकशाखाभिः क्वचित्कीलैरयोमुखैः ।
भूषयेत्परितो भूमिं प्रच्छदप्रवरैरपि ॥ १७ ॥

कहीं उसमें कांटोंके वृक्ष लगादे, कहीं वहां लोहेके गोखरू बिछवादे, और उसको चारोंओरसे किसी वस्तुसे ढककर भूषित रक्खे जिससे इस-भेदको कोई नजाने ॥ १७ ॥

निर्वृक्षक्षुपपाषाणस्थाणुवल्मीकनिर्द्रवैः ।
कारयेत्कारणैश्चित्रैः सैन्यव्यायाममन्वहम् ॥ १८ ॥

वृक्ष, छोटी २ झाडिये वेलबूँटे पाषाण (पत्थर) ठूंठ तलैया बँवई आदिसे रहित समान चित्रभूमि प्रतिदिन सेनाकी कवायद करनेके लिये भूषित करै ॥ १८ ॥

यस्मिन्देशे यथाकामं सैन्यव्यायामभूमयः ।
परस्य विपरीताश्च स्मृतो देशः स उत्तमः ॥ १९ ॥

जिस देशमें यथायोग्य सेनाके कवायदकी भूमियें होती हैं, और शत्रुकी यहां यह भूमि न हो वही देश उत्तमहै ॥ १९ ॥

आत्मनश्च परेषां च तुल्या व्यायामभूमयः ।
सुमध्यमः स उद्दिष्टो देशः शास्त्रार्थचिन्तकैः ॥ २० ॥

जहां अपनी सेनाकी और शत्रुसेनाकी भी कवायदकी भूमियें होती हैं वह शास्त्रके ज्ञाताओंने मध्यमदेश कहाहै ॥ २० ॥

अरातिसैन्यव्यायामसुपर्याप्तमहीतलः ।

आत्मनो विपरीतश्च यः स देशोऽधमःस्मृतः ॥२१॥

जहा शत्रुकी सेनाकी कवायदकी भूमि है और अपनी नहीं है वह देश अधम है ॥ २१ ॥

नित्यमुत्तममाकाङ्क्षेत्तदभावे तु मध्यमम् ।
अधमं बन्धनागारं नोपासेवेत सिद्धये ॥ २२ ॥

नित्य उत्तम देशकी इच्छाकरै,यदि ऐसा न हो तो मध्यमदेशकी इच्छा करै अधम देश बन्धनागारके समानहै उसे सिद्धिके लिये सेवन न करै २२॥

आक्रान्त इव केनापि रोगार्त्तैरनुद्रुतः ।
अकस्मादुद्भवद्द्वेषो राजनीहारसंवृतः ॥ २३ ॥

अब जयादि लक्षण कहतेहैं जैसे किसीने आक्रमण कियाहो ऐसा जानपडे, अकस्मात् सेना रोगी होजाय अकस्मातही जहां द्वेष भडक उठै, राजा जैसे कुहरेसे व्याप्त होजाय ॥ २३ ॥

विधूतपरुषैर्वातैरकस्माच्च पतद्रजाः ।
परस्परभवद्द्रोहो न तथा तूर्यनिस्वनः ॥ २४ ॥

कठिनपवन चलनेलगे, अकस्मात् धूर गिरनेलगे, परस्पर द्रोह होजाय, तुरही आदिका उत्तम शब्द नहो ॥ २४ ॥

उत्प्रेक्षितभयत्रासो निर्घातोल्काविभूषितः ।
उद्धूमः प्रज्वलच्छत्रो विदक्षिणशिवारुतः २५ ॥

भय और त्राससा विदित होतारहै, वज्रकेसा शब्द और उल्कापात होताहो, सधूम छत्र जलतासा दीखै, वा दक्षिण ओर अशुभतासूचक गीदडी रुदन करती हो ॥ २५ ॥

मण्डलैःकाकगृध्राणामाकीर्णो रूक्षवासिभिः ।
मुहुरत्युग्रतादीप्तः संसिक्तो रक्तवृष्टिभिः ॥ २६ ॥

.क और गृद्धोंके मण्डल बहुत दीखैं, ठूठोंपर बैठै, कभी कभी जल-दीखने लगे, लालरंगकी बूँदोंकी वर्षा हो ॥ २६ ॥

परीतराजनक्षत्रः क्रूरैरौत्पातिकैर्ग्रहैः ।
सूर्यदृष्टकबन्धादिरकस्मान्मूढवाहनः ॥ २७ ॥

क्रूर और उत्पाती नक्षत्रोंसे राजाका नक्षत्र युक्तहो, सूर्यमें कबन्ध दीखै, कस्मात् अपनी सवारियोंको मोह हो जाय ॥ २७ ॥

अकस्मान्मत्तमातङ्गप्रशुष्यद्दानशीकरः ।
इत्यादिविकृतोपेतः स्कन्धावारो न शस्यते ॥ २८ ॥

अकस्मात् मतवाले हाथियोंका मद सूखजाय, इत्यादि विपरीत बातैं, जहां हों वह छावनी अच्छी नहीं होती ॥ २८ ॥

प्रहृष्टनरनारीकः प्रशस्तस्वनदुन्दुभिः ।
गम्भीरहेषितहयः शस्त्रबृंहितकुञ्जरः ॥ २९ ॥

जहांके नरनारी प्रसन्नहैं, जहांके दुन्दुभी नगाडोंका शब्द प्रशस्तहै, घोडोंका हींसना जहां गम्भीर होताहै, हाथी अपनी चिंघाड भरते हैं, शस्त्र निर्मल रहतेहैं ॥ २९ ॥

पुण्याहब्रह्मघोषाढ्यो नृत्यगीतसमस्वनः ।
निर्भीतिको महोत्साह आकाङ्क्षितजयोदयः॥ ३० ॥

ब्राह्मणोंके पुण्याहवाचन वेद घोषसे बढाहुआ शब्द नृत्यगीतके समान होताहै, निर्भयता महाउत्साह जयकी लालसा होतीहै ॥ ३० ॥

नीरजस्कोऽतिवृष्टश्च प्रादक्षिण्यस्थितग्रहः ।
दिव्यान्तरिक्षैरुत्पातैः पार्थिवैश्चाप्यदूषितः ॥ ३१ ॥

धूरिरहित वर्षासम्पन्न, ग्रहोंकी अनुकूलता, दिव्यअन्तरिक्षके उत्पात और राजोंके उत्पातोंसे अदूषित ॥ ३१ ॥

नीचैः प्रवृत्तानुलोममारुतस्तुतमङ्गलः ।
हृष्टपुष्टबलः साधुः सुगन्धिज्वलितामलः ॥ ३२ ॥

सहज सहज चलतीहुई पवन मंगलकी सूचना देतीरहे, सेना हृष्टपुष्ट सुगन्धिसे व्याप्त निर्मल ॥ ३२ ॥

अमद्यमाद्यन्मातङ्ग आसाराभ्युदयान्वितः ।
इत्यादिलक्षणोपेतः स्कन्धावारः प्रशस्यते ॥ ३३ ॥

विनाही मदके हाथी मतवाले विदितहों, सेना उदयोन्मुखीहो, इन लक्षणोवाली छावनी विजय देनेवाली और श्रेष्ठ कहीहै ॥ ३३ ॥

शस्ते तस्मिन्द्विषो भङ्गो ज्ञेयोऽशस्ते विपर्ययः ।
निमित्तान्येव शंसन्ति शुभाशुभफलोदयम् ॥ ३४ ॥

प्रशसित छावनीसे शत्रुका भंग होता है अप्रशसित निकृष्टसे अपनी हार होती है, इसप्रकार शुभ फलके देनेवाले यह निमित्त देखे जाते हे ३४

तस्मादेतानि शास्त्रज्ञो राजा समुपलक्षयेत् ।
प्रशस्तेन निमित्तेन विशुद्धेनान्तरात्मना ॥ ३५ ॥

इसकारण शास्त्रका जाननेवाला राजा इन निमित्तोको भलीभाँति जाने जब अच्छे शकुन हो अन्तरात्मा प्रसन्नहो ॥ ३५ ॥

व्यक्तमारभ्यमाणं हि सिद्धिं याति समीहितम् ।
सहायसम्पद्विज्ञानं सत्त्वं दैवानुकूलता ॥ ३६ ॥

तथा जिसका आरम्भ स्वच्छ है उसकी मन कामना सिद्ध होती है, सहायसम्पत्ति, विज्ञान, दैवकी अनुकूलता ॥ ३६ ॥

उद्योगो व्यवसायश्च यस्यैते तस्य सिद्धयः ।
तन्मूलत्वात्प्रजानां तु राजा स्कन्ध इति स्मृतः ॥ ३७ ॥

उद्योग, सत् असत्का विचार जिसमें है उसको सिद्धि होती है, इन

ही ओर प्रजाओंकी भूल होनेसे राजाको स्कन्ध कहते हैं ॥ ३७ ॥

आवारोऽमात्यदण्डादिर्वृत्तिरावार उच्यते ।
भूतानां भूतिनिष्पत्तेरावारेण महीयसा ॥ ३८ ॥

और अमात्य (मन्त्री) दण्डादिकी वृत्तिका नाम आवार है; इस बडे ारसे प्राणियोंको ऐश्वर्यकी प्राप्ति होतीहै ॥ ३८ ॥

आवृतस्तु यतः स्कन्धः स्कन्धावारस्ततः स्मृतः ।
समवस्कन्दवासाम्बुवीवधासारनिग्रहाः ।
एते प्रयत्नतो रक्ष्याः स्कन्धावारस्य मृत्यवः॥ ३९॥

जिसकारण कि, स्कन्ध इनसे आवृत होता है, इससे वह स्कंधावार हाता है, अपनी छावनी निवास जल सेना भार ढोनेकी सामग्री धान्यादि र सीमा यह स्कन्धावार छावनीकी वस्तुएँ विशेष यत्नसे रक्षा करनी ाहिये अन्यथा छावनीका अनिष्ट उपस्थित होताहै ॥ ३९ ॥

इति प्रयत्नेन निवेशयेद्बलं शुभाशुभं वास्य तदोपलक्षयेत् ।
परस्य चैतन्निपुणं विलोकयेत्समारभेताशुभहीनदर्शने ॥ ४० ॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे स्कन्धावारसन्निवेशो
निमित्तज्ञानञ्च षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

इसप्रकार प्रयत्नसे निवासका शुभाशुभ देखकर वहां अपनी सेना स्थापित करै, और शत्रुके विपरीत अशुभ निमित्तोंका विशेष विचार करै, तब शत्रुके निमित्त (शकुन) अशुभ और हीनहों तब युद्धारम्भ करै ४०

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे भाषाटीकायां स्कन्धावारसन्निवेशो
निमित्तज्ञानञ्च षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

सप्तदशः सर्गः १७.

महाप्रज्ञानसम्पन्नः सत्त्वैदेवोपबृंहितः ।
उद्योगाध्यवसायाभ्यामुपायान्निक्षिपेत्परे ॥ १ ॥

विशेष ज्ञानसे सम्पन्न सत्वगुण और दैवकी अनुकूलता लिये हुए उद्योग और सत् असत्का विचार कर शत्रुपर उपायप्रयोग करे ॥ १ ॥

चतुरङ्गबलं मुक्त्वा कोपो मन्त्रश्च युध्यते ।
तत्साधुमन्त्रो मन्त्रेण कोपेण च जयेदरीन् ॥ २ ॥

चतुरंगिणी सेनाको छोडकर जहा कोप और मन्त्रसेही युद्ध होताहै वही श्रेष्ठ मन्त्र है, जिसमें कोष और मन्त्रसेही शत्रु जीता जाता है ॥ २ ॥

साम दानञ्च दण्डश्च भेदश्चेति चतुष्टयम् ।
मायोपेक्षेन्द्रजालं च सप्तोपायाः प्रकीर्त्तिताः ॥ ३ ॥

साम, दाम, दण्ड और चौथा भेद, माया, उपेक्षा, इन्द्रजाल यह सात उपाय जयके कहे है ॥ ३ ॥

परस्परोपकाराणां कीर्त्तनं गुणकर्मसु ।
सम्बन्धस्य समाख्यानमायत्याः सम्प्रकाशनम्॥ ४ ॥

गुण और कर्मोंमें परस्पर उपकारोंका कीर्तन, सम्बन्धका आख्यान आगामी समयमें कार्य प्रकाश करना ॥ ४ ॥

वाचा पेशलया साधुं तवाहमिति चार्पणम् ।
इति सामप्रयोगज्ञैः साम पञ्चविधं स्मृतम् ॥ ५ ॥

मनोहर मीठी वाणीसे मैं तुम्हाराहू इसप्रकार अपनेको अर्पण कर देना इसप्रकार सामके प्रयोग जाननेवालोंने पाच प्रकारका साम कहा है ॥ ५ ॥

यः सम्प्राप्तधनोत्सर्ग उत्तमाधममध्यमः ।
प्रतिदानं तथा तस्य गृहीतस्यानुमोदनम् ॥ ६ ॥

जिसको दान देनाहै,उसीसे उत्तम, मध्यम जो धन प्राप्त हुआहै, उसको ज्योंका त्यों लौटा देना,जो अपने शत्रुने लियाहै उसका अनुमोदन करना ६

द्रव्यादानमपूर्वं च स्वयं ग्राहप्रवर्त्तनम् ।
देयस्य प्रतिमोक्षश्च दानं पञ्चविधं स्मृतम् ॥ ७ ॥

कि आपने अच्छाकिया अपूर्वद्रव्य जिसका सम्बन्ध नहीं ऐसे द्रव्यका ग्रहण कराना अपने राज्यसे वह कुछ ग्रहण करले इस हेतुमें उसको प्रवृत्त करना और जो कुछ कर ग्रहण किया जाता है उसमेंसे कुछ छोडदेना इसप्रकार यह पाँच प्रकारका दान कहाहै ॥ ७ ॥

स्नेहरागापनयनं संहर्षोत्पादनं तथा ।
सन्तर्जनं च भेदज्ञैर्भेदस्तु त्रिविधः स्मृतः ॥ ८ ॥

स्नेह रागका दूर करदेना, हर्ष उत्पन्न कराना, तथा झुडकना यह तीन प्रकारका भेद भेदके जाननेवालोंने कहाहै ॥ ८ ॥

वधोऽर्थग्रहणं चैव परिक्लेशस्तथैव च ।
इति दण्डविधानज्ञैर्दण्डोऽपि त्रिविधः स्मृतः ॥ ९ ॥

वध करदेना, धन हरण करलेना, विशेष कायाकष्ट देना यह दण्डके ज्ञाताओंने तीनप्रकारका दण्ड वर्णन कियाहै ॥ ९ ॥

प्रकाशश्चाप्रकाशश्च पूर्वो द्विविध इष्यते ।
प्रकाशदण्डान्कुर्वीत लोकद्विष्टांस्तथा रिपून् ॥ १० ॥

वह दण्ड भी प्रकाश और गुप्त भेदसे दो प्रकारका है प्रजाद्वेषी तथा शत्रुओंपर प्रगट दण्ड करना चाहिये ॥ १० ॥

यैरुद्विजेतेह लोको ये चैव नृपवल्लभाः ।

बाधन्ते व्यधिकं ये च तेषूपांशु प्रवर्त्तते ॥ ११ ॥

जिससे प्रजाके वर्ग उत्तेजित होतेहो जो राजाका वल्लभ हो और सुहृद् जो प्रजाको विशेष पीडा देते हों उनको गुप्त दण्ड करना चाहिये ॥ ११ ॥

विषेणोपनिषद्योगैः शस्त्रेणोद्वर्त्तनेन वा ।
तथोपांशु नयेद्दण्डं यथान्यो न विभावयेत् ॥ १२ ॥

विष वा उपनिषद्के योगसे शस्त्र प्रयोग वा कोई वस्तुके उबटनसे पीडा पहुँचाकर जिससे कोई न जाने ऐसा उन समीपियोंको दण्ड दे ॥ १२ ॥

ब्राह्मणे जातिमात्रेऽपि धार्म्मिके चान्त्यजेऽपि हि ।
धर्म्मोन्नितीप्सया विद्वान् न वधं दण्डमादिशेत् ॥ १३ ॥

जातिमात्रकेही ब्राह्मण, धर्मात्मा अन्त्यजपर धर्मकी उन्नति करनेवाला कभी मृत्युदण्डविधान न करै ॥ १३ ॥

उपेक्षया वा हन्तव्या येषूपांशुः प्रशस्यते ।
उपेक्षां चापि निपुणः प्रत्यक्षं परिवर्जयेत् ॥ १४ ॥

एकान्त अर्थात् उसही गुप्त दण्डकी व्यवस्थाकी बडाई कीगई है और उस उपेक्षाको भी चतुर पुरुष प्रत्यक्षरूपसे त्यागन करदे ॥ १४ ॥

प्रविशन्निव चेतांसि दृष्ट्वा साधु पिबन्निव ।
स्रवन्निवामृतं साम प्रयुञ्जीत प्रियं वचः ॥ १५ ॥

देखतेही मानो प्रसन्नचित्तसे नेत्रोंसे पीतेहुएसे, अमृतको मानो टपकाते हुए, सामपूर्वक प्रियवाणीका प्रयोग करे ॥ १५ ॥

वागनुद्वेगजननी सामेति परिकीर्त्यते ।
सामाख्यं सुनृतं सत्यं प्रियं स्तोत्रं च कीर्त्यते ॥ १६ ॥

जिस वाणीसे दूसरेको उद्वेग न हो वह सामवाणी कहातीहै, सामात्मक सरल सत्यप्रिय स्तुति कहीगई है ॥ १६ ॥

आत्मनो विषयमिव कुर्वन्दद्यात्समीहितम् ।
जलवत्पर्वताञ्छत्रून्भिन्द्यादनुपलक्षितः ॥ १७ ॥

अपने वशमें करनेके लिये मनइच्छित दूसरेको देना चाहिये, जैसे जल भीतरही भीतर पर्वतको तोडताहै इसप्रकार शत्रुके न जानते न जानते उनमें भेद करादे ॥ १७ ॥

क्षीराब्धिर्मथितः साम्ना फलायामरदानवैः ।
निजघ्निरे धार्त्तराष्ट्रान्सामप्रद्वेषिणोऽचिरात् ॥ १८ ॥

दैत्य और देवताओंने साम उपायसेही अमृतके लिये क्षीरसागरको मथा था, और उससे अमृत निकाला पीछे दैत्य वंचित कियेगये और सामके न माननेवाले धृतराष्ट्रके पुत्र शीघ्रही नष्ट होगये थे यह 'भारतमें' प्रसिद्ध है ॥ १८ ॥

दारुणं विग्रहं विद्वान्दानेन प्रशमं नयेत् ।
इन्द्रोपचारे शुक्रस्य दानेन समंमीयिवान् ॥ १९ ॥

विद्वान्को उचित है कि, दारुण विग्रहकोभी दानसे शान्त करे, इन्द्रके उपचार (प्रयोग) और दानसे शुक्रने विग्रह शान्त करदियाथा ॥१९॥

अपराधेन दुहितुः कुपिते भृगुनन्दने ।
वृषपर्वा प्रदानेन दानवेन्द्रोऽभवत्सुखी ॥ २० ॥

जिससमय शर्मिष्ठा वृषपर्वाकी पुत्रीका भूलसे वस्त्र शुक्रकी कन्या देवयानीने धारण करलियाथा, और उसने बुरा भला कहा यहांतक कि, देवयानीको सूखे कुएमें ढकेलकर चलीआई, राजा ययातिने उसे निकाला, यह बात अपनी पुत्रीसे सुन जब भृगुजी क्रोधितहुए तब वृषपर्वाने अपनी वही कन्या देवयानीको दासीरूप देकर उनको प्रसन्न किया ॥ २० ॥

उपगम्यापि दातव्यं बलिने शान्तिमिच्छता ।
समूल एव गान्धार्या अप्रयच्छन्गतः क्षयम् ॥ २१ ॥

शान्तिकी इच्छावाला बलीके समीप जाकर भी कुछ भेट दे, विनादा-
नके समूलही गान्धारीके पुत्र क्षय होगये ॥ २१ ॥

किञ्चित्प्रयच्छन्भूयस्या तृष्णया परिलोभयन् ।
भिन्द्याच्चतुर्विधान्भेदान्प्रविश्योभयवेतनैः ॥ २२ ॥

बडी तृष्णासे लुभातेहुए कुछेक देतेहुए दोनों ओरकी वेतन लेतेहुए पुरु-
षोंद्वारा प्रविष्ट होकर पुरुषोंमे चार प्रकारके भेदोंका प्रयोग करै ॥ २२ ॥

अलब्धस्वपणो लुब्धो मानी चाथावमानितः ।
क्रुद्धश्च कोपितो यस्मात्तथातीतोऽवभाषितः ॥२३॥

जिसको अपनी दीहुई वस्तुका मोल नहीं मिला, लोभी, मानी
और तिरस्कार पाये हुए क्रोधी, किसी कारणसे कोप कराये हुए, तुम्हारे
विलम्बसे हमारा काम बिगड गया इसप्रकारसे कहेगये ॥ २३ ॥

यथाभिलषितैः कामैर्भिन्द्यादेतांश्चतुर्विधान् ।
परपक्षे स्वपक्षे च यथावत्प्रशमं नयेत ॥ २४ ॥

इन चार प्रकारके पुरुषोंको अपनी अभिलषित कामनाके अनुसार
भेदित करै, परपक्ष और शत्रुपक्षकी यथावत् शान्ति करै ॥ २४ ॥

भेदं कुर्वीत यत्नेन मन्त्र्यमात्यपुरोधसाम् ।
तेषु भिन्नेषु भेदो हि युवराजे तथोर्जिते ॥ २५ ॥

मन्त्री, अमात्य और पुरोहितोंका भेद यत्नपूर्वक करै, उनके भेदसे
बडा भेद होता है इनमें भी युवराजका भेद महाभेद कहलाता है ॥२५॥

अमात्यो युवराजश्च भुजावेतौ महीपतेः ।
मन्त्री नेत्रं हि भिन्नेऽस्मिन्नेकस्मिन्नपि तद्विधः॥२६॥

अमात्य और युवराज यह दोनों राजाकी भुजा है और मन्त्री नेत्रहै,
इनमें एकके भी न होनेसे राजा विकलाग होता है ॥ २६ ॥

सर्वावस्थं हि मेधावी तत्कुलीनं विकारयेत् ।
विकृतस्तु कुलीनस्तु स्वयोनिं ग्रसतेऽग्निवत् ॥ २७ ॥

बुद्धिमान्‌को उचित है कि, सब अवस्थाओंमें कुलीनको ही भेदकरे, कुलीन भेदको प्राप्त होकर अग्निके समान अपने पालकस्थानको भस्म करता है ॥ २७ ॥

तत्कुलीनेन तुल्यस्तु पुमानभ्यन्तरोषितः ।
तस्मादेतौ परं भिन्द्याच्छमं वात्मनि सन्धयेत् ॥ २८ ॥

अभ्यन्तरमें रहनेवाला पुरुषभी उस कुलीनकी समान होता है, इस कारणसे इन दोनोंका भेद अवश्य करै अथवा शान्तिपूर्वक इनको अपनेमें सन्धान करै ॥ २८ ॥

तत्रोपजापः कर्त्तव्यो यः कोपानुग्रहक्षमः ।
स कल्याणः शठो वेति परीक्ष्यः सूक्ष्मया धिया ॥ २९ ॥

जो कोपके अनुग्रह करनेमें समर्थ हो उसमें भेद करावे, वह कल्याणकारी है वा शठ है, ऐसा सूक्ष्मबुद्धिसे विचारै ॥ २९ ॥

कल्याणस्तु यथाशक्ति करोती सफलं वचः ।
शठः पक्षौ चलयति द्वावथार्थोपलिप्सया ॥ ३० ॥

जो कल्याणयुक्त है, वह यथाशक्ति अपने वचनको सफल करता है, और शठ अपनी प्रतिज्ञासे चलायमान होजाता है, यह दोनों अर्थकी इच्छावाले हैं ॥ ३० ॥

पूर्वसेनापतिर्नीचः कालयापनमाश्रितः ।
मिथ्याभिशस्तः श्रीकाम आहूयाप्रतिमानितः ॥ ३१ ॥

जो पूर्वसेनापति नीचपदपर स्थित हुआ काल बितानेके निमित्त स्थिति कररहा हो, मिथ्याही उसको दोष लगाया गया हो, लक्ष्मीकी इच्छा करता हो, जिसका मान बिगाडा गया हो उसको बुलाना चाहिये ॥ ३१ ॥

राजद्वेषी तत्कुलीनो दुष्यते यश्च भूभुजा ।
आहितव्यवसायश्च तथा करनिवेशितः ॥ ३२ ॥

जो राजद्वेषी कुलीन हो, राजाने जिसको दूषित किया हो, जिसका व्यवसाय नष्ट किया गया हो, तथा कर विशेष ग्रहण किया हो ॥ ३२ ॥

रणप्रियः साहसिक आत्मसम्भावितस्तथा ।
विच्छिन्नधर्मकामार्थः क्रुद्धो मानी विमानितः ॥ ३३ ॥

रणप्रिय, साहसी, स्वय सभावनावाला हो, जिसको धर्म, अर्थ, कामसे विच्छिन्न करदिया हो, क्रुद्ध, मानी, वा तिरस्कार किया हुआ ॥ ३३ ॥

भीतः स्वदोषाभित्रस्तः कृतवैरोऽभिशान्त्वितः ।
अतुल्येन सहाशक्तस्तुल्यमानो निराकृतः ॥ ३४ ॥

भीत, अपने दोषसे घबडाया हुआ, वैर बँधेहुए दूसरोंसे सान्त्वना पाये हुए, अशक्त अतुल कियाहुआ वा तुल्यमानवालेसे तिरस्कार किया हुआ ३४

अकारणान्निरुद्धश्च कारणाच्च विशोषितः ।
अकारणात्परित्रस्तः पूजार्होऽप्रतिपूजितः ॥ ३५ ॥

विनाकारण निरोधकियाहुआ वा किसी विशेष कारणसे निरोध किया हुआ विनाही कारण व्याकुलीभूत किया हुआ वा सम्मानके योग्य होनेपर भी न पूजित हुआ ॥ ३५ ॥

हृतद्रव्यकलत्रश्च महाभोगाभिकांक्षितः ।
परिक्षीणो बहिर्बन्धुर्बहिर्द्रव्यो बहिष्कृतः ॥ ३६ ॥

द्रव्य और स्त्री जिसकी छीन लीगई है ऐसा, महाभोगकी इच्छावाला परिक्षीण हुआ, बन्धुरहित किया हुआ द्रव्यसे बहिर्भूत किया हुआ तथा गोष्ठीसे बाहर किया गया ॥ ३६ ॥

इति भेद्याः समाख्याता भिन्द्यादेतान्परस्थितान् ।
आगतान्पूजयेत्कामैर्निजांश्च परिसाधयेत् ॥ ३७ ॥

यह सब पुरुष भेदके योग्य हैं शत्रुके पाससे आयेहुए इनको अच्छी प्रकार संस्कार कर अपनी कामनाओंको साधे ॥ ३७ ॥

समतृष्णानुसन्धानं समन्युभयदर्शनम् ।
प्रधानं दानमानञ्च भेदोपायाः प्रकीर्त्तिताः ॥ ३८ ॥

समान तृष्णावालेकी खोजकरना, क्रोधी और भय देखे हुएको दान मानसे वश करै यह भेदके प्रधान उपाय हैं ॥ ३८ ॥

भेदं कुर्वीत मतिमान्विगृहीतो बलीयसा ।
षण्डामर्कौ सुरैर्भित्त्वा बलवन्तौ पराजितौ ॥ ३९ ॥

बलवान्से निगृहीत होकर बुद्धिमान् भेदकाही प्रयोग करै बलवान् हुएभी षण्ड और अमर्क परस्पर भेद डलवाकर देवताओंने पराजित किये ३९

दण्डेन हि समाहन्याद्भित्त्वाऽरेः संहतं बलम् ।
भिन्नं हि तत्काष्ठमिव तृणदग्धं विशीर्य्यते ॥ ४० ॥

और आगे स्थित हुई सेनाको दण्डद्वारा नष्ट करै और उसकी संघटाईको भेदित करै, और वह छिन्न भिन्न होकर फाडेहुए काष्ठके समान तृणाग्निकी समान शीघ्र नष्ट होजाती है ॥ ४० ॥

उत्साहदेशकालैस्तु संयुक्तः सुसहायवान् ।
युधिष्ठिर इवात्यर्थं दण्डेनास्तन्नयेदरीन् ॥ ४१ ॥

उत्साहवान् देशकालसे संयुक्त अच्छी सहाय सम्पन्न युधिष्ठिरके समान बली होकर दण्डसे अत्यन्तही शत्रुको अस्त करदे ॥ ४१ ॥

आत्मनः शक्तिमुद्वीक्ष्य दण्डमभ्यधिकं नयेत् ।
एकाकी सत्त्वसम्पन्नो रामः क्षत्रं पुराऽवधीत् ॥ ४२ ॥

अपनी शक्तिको देखकर दूसरेपर दण्ड प्रयोग करै, शक्ति सम्पन्न होकरही इकले परशुरामने २१ इक्कीसबार क्षत्रियोंको नष्ट कर दियाथा ४२

अलसं विक्रमे श्रान्तं विहितोपायचेष्टितम् ।
क्षयव्ययप्रसारैस्तु सन्तप्तं परिविद्रुतम् ॥ ४३ ॥

आलसी विक्रममें शान्त उपायकी चेष्टा देखेहुए क्षय और व्यय अधिकाईसे सन्तप्त, निस्तेज ॥ ४३ ॥

भीतं मूर्खं स्त्रियं बालं धार्मिकं दुर्जनं पशुम् ।
मैत्रीप्रधानं कल्याणबुद्धिं सान्त्वेन साधयेत् ॥४४॥

डरे हुए, मूर्ख, स्त्री, बालक, दुर्जन, पशु, धार्मिक, मित्रताप्रधानवाले, कल्याणबुद्धि इतनोंको सान्त्वनासे साधे, अर्थात् समझा बुझाकर अपने वशमें करै ॥ ४४ ॥

अन्योन्यशङ्कयोद्भिन्नान्दुष्टान्दण्डस्यकारणात्॥४५॥

और परस्परकी शंकासे एक दूसरेसे भिन्न हुए दुष्टोंको दण्डकेही कारणसे वशीभूत करै ॥ ४५ ॥

पुत्रान्भ्रातॄंश्च बन्धूंश्च सामर्थ्येन च साधयेत् ।
एतैः कः सदृशो लोके दूरं रिपुकृतैरपि ॥ ४६ ॥

पुत्र, भ्राता, बधु इनको भी अपनी सामर्थ्यसे वशीभूत करै, इनकी समान दूसरा लोकमें कोई अहितकारी नही है, जब यह शत्रुके द्वारा भेदको प्राप्त होजाँय ॥ ४६ ॥

सामैतेषु प्रयुञ्जीत दैवात्प्रस्खलितेष्वपि ।
दुष्करं यान्ति विकृतिस्पर्धाशीलनिबन्धनात् ॥४७॥

इनपर वश करनेके लिये साम उपायका प्रयोग करना चाहिये, यदि दैवात् यह स्खलित होजाँय तो स्पर्धा और शीलके जानेसे इनमें दुष्कर विकार प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥

कुलं शीलं दया दानं धर्मः सत्यं कृतज्ञता ।
अद्रोह इति येष्वेतदाचार्यास्तान्प्रचक्षते ॥ ४८ ॥

कुल, शील, दया, दान, धर्म, सत्य, कृतज्ञता, अद्रोह यह जिनमें विद्यमान हों वह आचार्य कहाते हैं ॥ ४८ ॥

पौरजानपदांश्चैव दण्डमुख्यश्च दण्डवित् ।
साधयेद्दानभेदाभ्यां दानभेदविचक्षणः ॥ ४९ ॥

दण्डका जाननेवाला पुरवासी, देशवासी जनोंको दण्डसे, और दान तथा भेदमें चतुर पुरुष दान भेदसे पुर और जनपदके देशोंको साधै ४९

अपराद्धांस्तु सुस्निग्धान्स्नेहोक्त्या मानदानतः ।
साधयेद्भेददण्डाभ्यां यथा योगेन चापरान् ॥ ५० ॥

और स्नेहयुक्त अपराधियोंको प्रीतिवचन, मान, दंड, भेद और दानसे साधै । और दूसरोंको यथारीतिसे साधै ॥ ५० ॥

देवताप्रतिमास्तम्भसुषिरान्तर्गतैर्नरैः ।
पुमान्स्त्रीवस्त्र संवीतो निशि चाद्भुतदर्शनम् ॥ ५१ ॥

देवताप्रतिमा स्तम्भोमें उनके भीतर पुरुष स्थित होकर अनेक चेष्टा करते हैं कहीं पुरुष स्त्रियोंके वस्त्र धारण करलेतेहैं तथा रातमें अद्भुत दर्शन दिखातेहैं ॥ ५१ ॥

वेतालः क्व पिशाचानां देवानाञ्च सुरूपता ।
इत्यादिमाया विज्ञेया मानुषी मानुषैश्चरन् ॥ ५२ ॥

वेताल, पिशाच और देवताओंकी समान रूप धरना यह मानुषी मायाही जाननी, मनुष्यही इन मायाओंको किये हुएहैं, देवता आदि इसप्रकार यत्र तत्र दिखाई नहीं देते ॥ ५२ ॥

कामतो रूपधारित्वं शस्त्रास्त्राश्माम्बु वर्षणम् ।
तमोनिलीनता चैव इति माया च मानुषी ॥ ५३ ॥

जैसी इच्छा हो वैसा रूप धारण करलेना, अस्त्र, शस्त्र, जलका वर्षाना, अंधकारमें लीन होजाना, यह सब मानुषी मायाहै ॥ ५३ ॥

जघान कीचकं भीम आश्रितः स्त्रीस्वरूपताम् ।
चिरं प्रच्छन्नरूपोऽभूद्दिव्यया मायया नलः ॥५४॥

देखो स्त्रीका रूप धारणकर भीमने कीचकको मारडाला, और दिव्य मायासे राजा नल बहुत कालतक अपना रूप छिपाये सारथीके वेषमें राजा ऋतुपर्णके स्थानमे रहा ॥ ५४ ॥

अन्याये व्यसने युद्धे प्रवृत्तस्यानिवारणम् ।
इत्युपेक्षार्थकुशलैरुपेक्षा त्रिविधा स्मृता ॥ ५५ ॥

अन्यायमें, व्यसनमे, युद्धमें प्रवृत्ति हुएका निवारण न करना, उपेक्षामें कुशलपुरुषोंने यह तीनप्रकारकी उपेक्षा कही है ॥ ५५ ॥

अकार्ये सज्जमानस्तु विषयान्धीकृतेक्षणः ।
कीचकस्तु विराटेन हन्यतामित्युपेक्षितः ॥ ५६ ॥

जो अकार्यमें फँसा हुआ था विषयके कारण जिसके नेत्र अंधे होरहेथे ऐसे कीचकको मरते हुए जानकर विराटने उपेक्षा की थी, अर्थात् जब वह द्रौपदीकी इच्छा करता था, तब भीमसेनने उसको द्रौपदीका रूप धारण करके मारडाला और राजा विराट उसके वधसे चुप रहे ॥ ५६ ॥

ससज्जं भीमसेनं वा स्वार्थविच्छेदभीतया ।
हिडिम्बया निजो भ्राता हन्यतामित्युपेक्षितः॥५७॥

और भीमसेनको सज्जित देखकर अपने स्वार्थ सिद्धिके लिये निर्भय हिडिम्बा राक्षसीने अपने भ्राता बकके मारेजानेमे उपेक्षा की थी, आशय यह कि, वह भीमसेनपर मोहित होगई और जब भीमसेनने उसके भ्राता बकराक्षसको मारडाला तब उसके मारनेमे वचनको उसने कुछ सहायता न की ॥ ५७ ॥

मेघान्धकारवृष्ट्यग्निपर्वताद्भुतदर्शनम् ।
दूरस्थानाञ्च सैन्यानां दर्शनं ध्वजशालिनाम् ॥५८॥

मेघ, अन्धकार, वृष्टि, अग्नि, पर्वत तथा अद्भुतदर्शन और दूरस्थित ध्वजा ताका संयुक्त सेनाका दर्शन होना ॥ ५८ ॥

छिन्नपाटितभिन्नानां संस्कृतानाञ्च दर्शनम् ।
इतीन्द्रजालं द्विषतो भीत्यर्थमुपकल्पयेत् ॥ ५९ ॥

छिन्न भिन्न पाटित [विदारण] और संस्कृत वस्तुका दिखाना, यह इन्द्रजालविद्या शत्रुओंको भयदिखानेके लिये कल्पना करै ॥ ५९ ॥

इत्युपायाः समाख्याता राज्ञो नानार्थसाधकाः ।
सामैतेषु हि सामज्ञो यथा कामं प्रयोजयेत् ॥ ६० ॥

राजोंके अनेक अर्थ साधनेवाले यह अनेक उपाय वर्णन किये हैं, सामका जाननेवाला इनमें प्रथम सामउपायोंकी कल्पना करै ॥ ६० ॥

सामभेदौ च कर्त्तव्यौ साधु दानपुरःसरौ ।
दानेन हि समायुक्तावेतावर्थस्य सिद्धये ॥ ६१ ॥

दानपूर्वक साम और दान उपाय प्रयोग करने चाहिये दानसेही युक्त होनेसे इन दोनों अर्थोंकी सिद्धि होतीहै ॥ ६१ ॥

दानरिक्तेन सर्वत्र साम्ना कृत्यं भृशेन वा ।
निर्दानं साम नायाति कलत्रेष्वपि संस्थितिम् ॥ ६२ ॥

यदि दानके रहित साम हो तो वह निरर्थक होजाताहै, विना दानके तो स्त्रीमें भी केवल साम स्थितिका साधन नहीं होता ॥ ६२ ॥

इत्याद्युपायान्निपुणं नयज्ञो विनिक्षिपेच्छत्रुबले निजे वा ।
निरभ्युपायो नियतं प्रयाणं विचेष्टमानोऽन्ध इवाभ्युपैति ६३

नीतिके जाननेवालेको यह सम्पूर्ण उपाय शत्रुकी सेना वा अपने द्रोहियोंमें प्रयोग करने चाहिये और यदि उपाय न कियाजाय और वैसेही प्रयाण कियाजाय तो उसकी चेष्टा अन्धकी समान होतीहै ॥ ६३ ॥

अवश्यमायान्ति वशं विपश्चितामुपायसन्दर्शनलेन सम्पदः
भवन्त्युदाराविधिवत्प्रयोज्यतेफलंहिराज्ञांक्वचिदर्थसिद्धये ६

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे उपायविकल्पो नाम
सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

उपाय सन्दर्शनके बलसे अवश्यही बुद्धिमानोंके वशमें लक्ष्मी आजाती है और विधिपूर्वक प्रयोगोंमें राजाकी उदारता होती है और अर्थसिद्धिवाले फलकी प्राप्ति होतीहै ॥ ६४ ॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे भाषाटीकायामुपायविकल्पो
नाम सप्तदश सर्ग ॥ १७ ॥

अष्टादशः सर्गः १८.

सामादीनामुपायानां त्रयाणां विफले नये ।
विनयेन्नयसम्पन्नो दण्डं दण्डेषु दण्डवित् ॥ १ ॥

जब राजनीतिके साम, दान, भेद इन तीन उपायोंसे कार्य न चले तब नीतिसम्पन्न दण्डविधानका ज्ञाता दण्डयोग्यपुरुषोंमे दण्डविधान करै ॥१॥

देवानभ्यर्च्य विप्रांश्च प्रशस्तग्रहतारकम् ।
षड्विधं तु बलं व्यूह्य द्विषतोऽभिमुखं व्रजेत् ॥ २ ॥

अच्छे नक्षत्र ग्रह ताराआदि देखकर तथा देवता और ब्राह्मणोकी पूजा करके मन्त्रकोष सयुक्त छ. प्रकारवाली सेनाकी व्यूह रचना (कवायदबन्दी) करके शत्रुपर चढाई करै ॥ २ ॥

सत्कारादनुरागाच्च सह सङ्कटनाशनात् ।
नित्यं तद्भावभावित्वान्मौलं भूतबलाद्गुरु ॥ ३ ॥

निरन्तर सत्कार, प्रेम, सकटके समय स्वामीके दुःखनाश करनेम तत्प

र नित्य स्वामीके भावमें भावित रहनेसे मौल (परम्परा पुस्तैनी का) बल सेनाके बलसे श्रेष्ठ है ॥ ३ ॥

मौलं भूतं श्रेणिसुहृद्द्विषदाटविकं बलम् ।
पूर्वं पूर्वं गरीयस्तु बलानां व्यसनन्तथा ॥ ४ ॥

पुस्तैनी नौकरोंकी बल, भूत (पीछे भरती किये नौकरोंका) बल, १ समूह [समुदायके मित्र] द्विषत् (शत्रुभूत वर्गोंका) बल आटविक दानमें वनमें युद्ध करनेवाले वा बनवासी पर्वतवासी सेनाका बल] यह पूर्व श्रेष्ठ हैं अर्थात् गरीय हैं और सेनाका व्यसनभी पूर्व पूर्व गरीय है॥ ४॥

वृत्तेश्च स्वाम्यधीनत्वाद्भूतं श्रेणीबलाद्गुरु ।
तुल्यसंहर्षणामर्षात्सिद्ध्यलाभात्तथैव च ॥ ५ ॥

स्वामीके अधीन वृत्ति होनेसे बराबर संहर्षणकी असह्यतासे तथा द्धिके प्राप्त न होनेसे श्रेणीबलसे भूतबल बडा है ॥ ५ ॥

बलाज्ज्ञानपदत्वाच्च मैत्राच्छ्रेणीबलं गुरु ।
सङ्ख्यातदेशकालत्वादेकार्थोपगमात्तथा ॥ ६ ॥

बलके एक देशवासी होनेसे देश और कालके सम्बन्धी मेल होनेसे कही प्रकारका आचार विचार होनेसे वा दोनोंका एकही अर्थमें प्रयोजन प्त होनेसे मित्रबलसे श्रेणीबल बडाहै ॥ ६ ॥

बलादमतयोग्याच्च शत्रौ मित्रबलं गुरु ।
प्रकृत्याऽधार्मिका लुब्धा अनार्याः सत्यभेदिनः ॥७॥

अस्वीकारयोग्य शत्रुके बलसे सुहृद्बल बडा है कारण शत्रुबल स्वभा- ऐही अधर्मी, लोभी, अनाडी और सत्यनाशक है ॥ ७ ॥

तस्मादारण्यकतया तेभ्यः शत्रुबलं गुरु ।
उभयं तद्विलोपार्थं कालापेक्षाव्यवस्थितम् ॥ ८ ॥

---

१ एक प्रकारकी शत्रुरूपसेना ।

पूर्वमे आरण्यकता वननिवासपना होनेसे इन आटविकोंसे शत्रुबल बडाहै यह दोनों प्रकारका बल एक दूसरेको नष्ट करनेको समय परसताहै

विलोपव्यसने चैव तत्रास्य विजयो ध्रुवः ।
उपजापकृतात्तस्योद्भयादस्यां विशेपतः ॥ ९ ॥

इनके नाशरूप व्यसनसे राजाकी निश्चय विजय है इनका उपजाप [कानमें बात करके भेद कराना] वा उपस्थित हुए उत्कृष्ट भयसे इन दोनोंके विलोप व्यसनसे राजाकी अवश्य विजय होती है ॥ ९ ॥

परस्य वाप्युपजपेदुपजापाद्ध्रुवो जयः ।
स्फीतसारानुरक्तेन मौलेनोपचितः परः ॥ १० ॥

अथवा शत्रुके यहा परस्परका भेद करावे तो इस भेदसे अवश्य जय होती है, तथा अच्छी अनुरक्त पुस्तैनी सेनासे अवश्य जय होती है ॥१०॥

अपरेणापि रोपेण नृपेण योद्धुमिच्छया ।
तत्तुल्येनैव यातव्यः क्षयव्ययसहिष्णुना ॥ ११ ॥

जब दूसरा राजा भी क्रोधकर युद्धकी इच्छा करता हो तब क्षय और व्ययके सहनेमे समर्थ राजा उस अपनो समान राजापर चढाई करे और जानले कि, शत्रुभी क्षय और व्ययको सहसकताहै ॥ ११ ॥

प्रकृष्टेऽध्वनि काले वा गच्छेन्मौलैः समावृतैः ।
मौलास्तु दीर्घकालत्वात् क्षयव्ययसहिष्णवः ॥१२॥

अच्छे मार्ग वा समयमें पुस्तैनी मौलबलसे सयुक्त होकर गमन करे मौलबलही दीर्घकालका होनेसे क्षय और व्यय सहनेमे समर्थ है ॥ १२ ॥

एपु वस्तपु मेधावी भूतादीनि विवर्जयेत् ।
दीर्घकालाध्वखिन्नेषु तेपु भेदभयं भवेत् ॥ १३ ॥

बुद्धिमान् इन कार्यमे भूतबलको वर्जित रक्खै कारण कि, इनके दीर्घ-

कालतक एक कार्यमें लगने तथा दीर्घकालतक मार्गका खेद होनेसे भेदकी संभावना होतीहै ॥ १३ ॥

बहुत्वात्परसैन्यानां दीर्घकालाच्च खेदतः ।
नित्यप्रवासायासाभ्यां भेदोऽवश्यं हि जायते ॥ १४ ॥

शत्रुसेनाकी अधिकाई होनेसे दीर्घकालतक एककार्यमें लगे रहनेके खेदसे नित्य परदेशमें रहने और परिश्रमसे अवश्य भेद उपस्थित होताहै ॥ १४ ॥

प्रभूतं मे भूतबलं मौलमल्पमसारवत् ।
अरेरल्पं विरक्तं वा मौलं प्रायोऽल्पसारवत् ॥ १५ ॥

मेरा भूतबल अधिक है, मौलबल अल्प और असार है, शत्रुका बल थोडा और विरक्तहै अथवा शत्रुका मौलबल प्रायः असार है ॥ १५ ॥

प्रायो मन्त्रेण योद्धव्यमल्पायासेन वै जयः ।
अन्यो देशस्तु कालो वा प्रभूतौ चाक्षयव्ययौ ॥ १६ ॥
श्रान्तोपजापाद्विश्वस्तं यस्मात्सैन्यं परस्य च ।
अल्पप्रसारो हन्तव्य इत्युपेक्ष्या भृतैर्बलैः ॥ १७ ॥

ऐसे समय कौशल सम्मतिपूर्वक युद्ध करनेसे तो थोडे समयमेंही अवश्य जय होतीहै शत्रुके देश, काल और विशेष क्षय व्ययको देखकर जब कि चढकर आईहुई शत्रुकी सेना थकित तथा भेदित वा चुगली आदिसे विमन वा किसीप्रकारके अभयसे विश्वासवाली हो वा भेदसे विश्वास करचुकी हो, थोडे प्रसारवाली हो तब उसको सेनाके भृत्योंसे उपेक्षित जान वध करै ॥ १६ ॥ १७ ॥

स्फीतं त्रीणि बलं शक्यमाधातुं पानवर्त्मनि ।
ह्रस्वप्रयासव्यायामादिति सैन्यं समुत्पतेत् ॥ १८ ॥

शत्रुकी बडी सेनाको बढीहुई देखे तो उसको मद्यपानमें लगाकर जय करताहै, थोडी प्रवासवाली, व्यायामवाली, उस सेनापर चढाई करदे १८॥

स्वप्रभूतं सुहृत्सैन्यं शक्यमाधातुमात्मनि ।
अल्पमेवाल्पयुद्धश्च मन्त्रेणेति सुहृद्बलैः ॥ १९ ॥

अपनी बढी चढी सुहृत्सेना अपनेमें अनुरक्त हो तो युद्धमें जय निश्च है और सुहृदोके बलसे सम्पन्न तथा मन्त्रसे रक्षित थोडी सेना और थो युद्धसेभी उस आईहुई सेनासे जयलाभ होताहै ॥ १९ ॥

मित्रसाधारणे कार्ये मित्रायत्ते फलोदये ।
अनुग्राह्ये च पाण्डित्ये मित्रेणैव सह व्रजेत् ॥ २० ।

मित्रके साधारण कार्यमें तथा जिसका फलोदय मित्रके आधीन हो, त उसके अनुग्रहमे तत्पर तथा पाण्डित्यमे कुशल उस मित्रके साथही युद्ध का नको अपनी अनुरक्त व्यूहित सुखदु ख सहनशील सेनाके सहित गमनकरे २

प्रभूतेनारिसैन्येन प्रेषयेन्महतो रिपून् ।
श्वसूकरवधापेक्षी नयं वा वचनं नयेत् ॥ २१ ॥

जो शत्रुकी सेना विशेष हो तो कुत्ते और सूकरके वधकी इच्छा करने-वाला नीतिमान् राजा उस शत्रुसेनासे युद्ध करनेको बडी सेना भेजे और उनसे विनीत वचन कहे ॥ २१ ॥

अविचित्तं कोपभयादभ्यासेन रिपोर्बलम् ।
वासयेत्कर्षयेच्चैनं दुर्गकण्टकशोधनैः ॥ २२ ॥

कोपके भयसे अविचित्त (व्याकुल) हुई शत्रुकी सेनाको कार्यको कह-कर वास दे, तथा अपने दुर्गके कटक शोधन कर अर्थात् द्वषियोको निकलकर शत्रुसेनाको कर्षण करे ॥ २२ ॥

नित्यमाटविकं सैन्यं दुर्गकण्टकशोधनैः ।
परदेशप्रवेशे च पुरा कुर्वीत पण्डितः ॥ २३ ॥

चतुरपुरु[illegible]को उचित है कि, पराये देशमे प्रवेश करनेसे पहले दुर्ग कटकोंको [illegible] करे और आटविक बल ठीक करे ॥ २३ ॥

एतन्मौलादिषड्वर्गः चतुरङ्गबलं विदुः ।
षडङ्गमन्त्रकोषाभ्या पदात्यश्वरथद्विपैः ॥ २४ ॥

यही मौल अर्थात् पुस्तैनी आदि जनोंका षड्वर्ग चतुरंगबल कहाताहै । मंत्र, कोष, पैदल, सवार, रथ, हाथी यहभी षडङ्ग कहाहै ॥ २४ ॥

इति षड्विधमेतद्धि यथा योगबलं बली ।
सुनिश्छिद्रं प्रतिव्यूह्य यायाज्ज्यायो बलं प्रति ॥ २५ ॥

यही छः प्रकारका षडंग बल है, और यथायोग्य अपनी सेनाको निश्छिद्र जानकर व्यूहित करके शत्रुकी विशेषसेनाके प्रति गमन करै ॥ २५ ॥

योगमस्य विजानीयात्सर्वं मन्त्रादिना नृपः ।
कृताकृतप्रचारञ्च सम्यक्सेनापतेस्तथा ॥ २६ ॥

राजा मन्त्रादिके द्वारा इस सेनाके सब योगको जाने तथा सेनापतिके कर्तव्य अकर्तव्यके प्रचारको भलीभाँतिसे जानै ॥ २६ ॥

कुलोद्गतं जानपदं मन्त्रज्ञं मन्त्रसम्मितम् ।
दण्डनीतेः प्रयोक्तारमध्येतारञ्च यत्नतः ॥ २७ ॥

कुलपरंपरासे प्राप्त हुए अपने देशके, मन्त्र जाननेवाले, मन्त्रमें सम्मत होनेवाले, दण्डनीतिके प्रयोग करनेवाले और यत्नपूर्वक अध्ययन करनेवालेको ॥ २७ ॥

सत्त्वशौर्यक्षमास्थैर्यमाधुर्यार्थगुणान्वितम् ।
प्रभावोत्साहसम्पन्नमाजीव्यमनुजीविनाम् ॥ २८ ॥

सत्व, शूरता, क्षमाशील, स्थिरता मधुरता, गुणोंसे सम्पन्न, अर्थसम्पन्न प्रभाव और उत्साहसे सम्पन्न अनुजीवियोंकी आजीविका देनेवाले ॥ २८ ॥

मित्रवत्तमुदारास्यं बहुस्वजनबान्धवम् ।
व्यावहारिकमक्षुद्रं पौरप्रकृतिसङ्गतम् ॥ २९ ॥

मित्रकीसमानउदारचेष्टावाले, उच्चमुख, बहुतसे स्वजन बन्धुओंसे सम्पन्न व्यवहारके ज्ञाता, क्षुद्रता रहित, पुरवासी और प्रजाओंसे संगतिवाले २९

नित्याकारणवैराणामकर्त्तारमनाविलम् ।
श्रुतानुवन्धिकर्माणमल्पामित्रं वहुश्रुतम् ॥ ३० ॥

नित्यही अकारण वैरके न करनेवाले, अनाविल (निर्मलमनवाले) नानाशास्त्र सम्बन्धी कर्मोंके करनेवाले अल्पशत्रुवाले वहुत शास्त्रके ज्ञाता ३०

आरोग्यं व्यायतं शूरं त्यागिनं कालवेदिनम् ।
कल्याणाकृतिसम्पन्नं स्वसम्भाव्यपराक्रमम् ॥ ३१ ॥

रोगरहित, आगेके परिणामके ज्ञाता, शूर, त्यागशील समयके ज्ञाता, कल्याणी अर्थात् मनोहर आकारसे सम्पन्न अपने पराक्रमके ज्ञाता ॥ ३१ ॥

गजाश्वरथचर्यासु शिक्षितं सुजितश्रमम् ।
खड्गयुद्धनियुद्धेषु शीघ्रञ्चंक्रमणक्षमम् ॥ ३२ ॥

हाथी, घोडे, रथकी सवारीकरनेमे शिक्षित दूसरे कार्योंमें अच्छी प्रकारसे शिक्षित, खड्गयुद्ध तथा दूसरे युद्धोंमें शीघ्रही विचरण करनेम समर्थ ३२

युद्धभूमिविभागज्ञं सिंहवद्गूढविक्रमम् ।
अदीर्घसूत्रं निस्तन्द्रममर्षणमनुद्धतम् ॥ ३३ ॥

युद्धभूमिके विभागको जाननेवाले सिंहकी समान गूढ विक्रमी, दीर्घसूत्रतारहित, तन्द्रा, आलस्यहीन, अमर्षण [असहनशीलता] उद्धतपनसे रहित ॥ ३३ ॥

हस्त्यश्वरथशस्त्राणां सम्यग्लक्षणवेदिनम् ।
चरस्थिरविवेकज्ञं कृतज्ञमनुकल्पकम् ॥ ३४ ॥

हाथी, घोडे, रथ और शस्त्रोंके लक्षणको भलीप्रकार जाननेवाले, चर और अचर वस्तुके ज्ञाता, कृतज्ञ वस्तुकेही सदृश कार्यकुशल ॥ ३४ ॥

धर्मकर्मसमायोगं कुशलं कुशलानुगम् ।
सर्वयुद्धक्रियोपेतं शक्तं तत्परिकर्मणि ॥ ३५ ॥

धर्मकर्मके योगमें कुशल, कुशल पुरुषोंकेही अनुगामी, सब युद्धकी क्रियासे सम्पन्न और उस कर्ममें सब प्रकारसे समर्थ ॥ ३५ ॥

स्वभावचित्तज्ञतया युक्तमश्वनृदन्तिनाम् ।
तन्नाम्नाश्चापि वेत्तारं तद्विधानोपपादकम् ॥ ३६ ॥

घोडे, मनुष्य और हाथियोंके स्वभाव और चित्तका ज्ञान तथा उनके नामके भी जाननेवाले और उनके विधानके उपपादक ॥ ३६ ॥

देशभाषास्वभावज्ञं लिपिज्ञं सुदृढस्मृतिम् ।
निशाप्रचारकुशलं कुशलज्ञाननिश्चितम् ॥ ३७ ॥

देशभाषा स्वभावके ज्ञाता और उन भाषाओंके अक्षरोंके ज्ञाता, दृढस्मृतिवाले, रात्रिके विचरनेमें कुशल कुशलतापूर्वक ज्ञानमें निश्चय किये ॥ ३७॥

उदयास्तमयज्ञानं नक्षत्राणां ग्रहैः सह ।
दिग्देशमार्गविज्ञानसम्पन्नं तन्निषेवितम् ॥ ३८ ॥

नक्षत्र और ग्रहोंके उदय अस्तके ज्ञानवाले, दिशा, देश और मार्गके ज्ञानसे युक्त ॥ ३८ ॥

क्षुत्पिपासाश्रमत्रासशीतवातोष्णवृष्टिभिः ।
अनाहितभयग्लानिं सत्पुंसामभयप्रदम् ॥ ३९ ॥

क्षुधा, पिपासा (प्यास) श्रम, त्रास, शीत, वात, गरमी, वर्षासे भय और ग्लानिको प्राप्त न होनेवाले, सत्पुरुषोंको अभय देनेवाले ॥ ३९ ॥

भेत्तारं परसैन्यानां दुःसाध्या हितनिश्चयम् ।
भयानाश्च स्वसैन्यानां सम्यग्विष्टम्भलक्षणम् ॥ ४० ॥

शत्रुओंकी सेनाके भेद करनेवाले और दूसरोंको दुःसाध्य, स्वामीका

व्याधिदुर्भिक्षमरकैः पीडनं दस्युविद्रुतम् ।
पङ्कपांशुजलक्लिन्नं व्यस्तं पुञ्जीकृतं पथि ॥ ५१ ॥

व्याधी, दुर्भिक्ष तथा मारकरोगसे पीडित, चोरोंके उपद्रवसे पीडित, कीच, धूल, जलकी अधिकाईसे व्याप्त, मार्गमें कीनादिकी अधिकाईसे व्याकुल, छिन्न भिन्न तथा एकत्रितहुई ॥ ५१ ॥

प्रसुप्तं भोजनव्यग्रमभूमिष्ठमसंस्थितम् ।
चोराग्निभयवित्रस्तं वृष्टिवातसमाहितम् ॥ ५२ ॥

सोतीहुई तथा भोजन करनेमें व्यग्रचित्त, अभूमिष्ठ पर्वतादिपर चढतेहुए, स्थिति न करतेहुए, तथा चोर अग्निके भयमें व्याकुल वर्षा और पवनसे आहत ॥ ५२ ॥

एवमादिषु जातेषु व्यसनेषु समाकुलम् ।
स्वसैन्यं साधु रक्षेत परसैन्यञ्च घातयेत् ॥ ५३ ॥

इत्यादि व्यसनोंसे व्याकुलहुई अपनी सेनाकी भलीप्रकारसे रक्षा करता हुआ शत्रुकी सेनाका संहार करे ॥ ५३ ॥

विशिष्टो देशकालाभ्यां भिन्नारिप्रकृतिर्बली ।
कुर्यात्प्रकाशयुद्धञ्च कूटयुद्धं विपर्यये ॥ ५४ ॥

जब देशकाल अपने अनुकूलहो और शत्रुकी प्रजा उससे विपरीत होजाय तब बलवान्को प्रकाश युद्ध करना चाहिये इसके विपरीत कूट युद्ध करै ॥ ५४ ॥

तेष्ववस्कन्दकालेषु परं हन्यात्समाकुलम् ।
अभूमिष्ठं स भूमिष्ठः स्वभूमौ चोपजायते ॥ ५५ ॥

उनके घेरेके समय व्याकुल हुए शत्रुको मारे, दूसरेकी भूमिमें प्राप्त अभूमिष्ठ कहाता है और अपने देशमें स्थित भूमिष्ठ कहाता है, यह अभूमिष्ठको अपनी भूमिमें स्थित सहनमें ताडन करता है ॥ ५५ ॥

प्रकृतिप्रग्रहाहृष्टं स्पर्शैर्वनचरादिभिः ।
हन्यात्प्रवीरपुरुषैर्भङ्गदानापकर्षणैः ॥ ५६ ॥

प्रजाके निग्रहसे अप्रसन्नको वनचरादिके स्पर्श तथा वीर पुरुषों द्वारा भंग कराने, दान और अपकर्षणसे शत्रुको नष्ट करै ॥ ५६ ॥

पुरस्तु दर्शनं दत्त्वा तल्लक्ष्यकृतनिश्चयात् ।
हन्यात्पश्चात्सवीरेण बलेनोत्पत्य वेगिना ॥ ५७ ॥

उसके आगे दर्शन देकर और उसके लक्ष्यमें निश्चय होनेसे पीछेसे किसी वेगवान् बली वीरके द्वारा शत्रुपर प्रहार कराकर मारना चाहिये५७

पश्चाद्वा सङ्कुलीकृत्य हन्यात्सारेण पूर्वतः ।
आभ्यां पार्श्वाभिघातौ तु व्याख्यातौ कूटयोधने ५८॥

अथवा पछिसे कोलाहल करके चले, बळसे पूर्वकी ओरसे प्रहारकरे यह दोनों ओरसे पार्श्वका ताडन कपटयुद्धमें वर्णन किया है ॥ ५८ ॥

पुरस्ताद्विषमे देशे पश्चाद्धन्यात्तु वेगवान् ।
जितमित्येव विश्वस्तं हन्याच्छत्रुं व्यपाश्रयः॥ ५९ ॥

यदि आगे विषमदेश हो तो बड़े वेगसे पीछेसे ताडन करै और मेरी जीतिहोगई इसप्रकार विश्वास पायेहुए शत्रुको आश्रयहीन कर नष्टकरै॥५९॥

स्कन्धावारपरग्राममास्यमानं व्रजादिषु ।
विलोभ्य तु परानीकमप्रमत्तोऽवनाशयेत् ॥ ६० ॥

छावनी, पुर, ग्राम, गोठ आदिमें स्थित हुई शत्रुसेनाको लोभित करके स्वयं सावधान होकर शत्रुसेनाको नष्ट करै ॥ ६० ॥

फल्गुसैन्यप्रतिच्छन्नं कृत्वा वा सारवद्बलम् ।
मर्दयन्तं तद्विलोपे ग्रसेदुत्पत्य सिंहवत् ॥ ६१ ॥

अपनी सारवाली सेनाको थोडी सेनासे प्रतिच्छन्न (अन्तरित) करके

जब उस थोडी सेनाको शत्रुमर्दन करनेलगे तब सिंहके समान शत्रुको नष्ट करे ॥ ६१ ॥

मृगयासम्प्रयुक्तं वा हन्याच्छत्रुं व्यपाश्रयः ।
अथवा गोग्रहाकृष्टया तल्लक्ष्यं मार्गबन्धनात् ॥ ६२

अथवा मृगयामें आसक्त निराश्रय शत्रुपर प्रहारकरे, अथवा उसके मार्ग को जानकर गौकी समान उसको ग्रहण करनेको मार्गकी रोक करे ॥ ६२ ॥

अवस्कन्दभयाद्रात्रौ प्रजागरकृतश्रमम् ॥ ६३ ॥

घेरनेके भयसे जिसने रात्रिमें जागरण किया है और इसी कारण श्रम प्राप्त हुआ है ॥ ६३ ॥

अहसन्नाहतश्रान्तमपराह्ने विनाशयेत् ।
निशि विश्रम्भसंसुप्तं तत्सौप्तिकविधानवित् ॥ ६४ ॥

और जो युद्धमें तथा दिनमे श्रमसे थके है, उनका अपराह्न (तीसरे पहर) युद्धमे विनाश करे और जो रातको सुखसे शयन कर रहे हों उनके सौप्तिक विधान [सोते हुओंपर प्रहारकी रीति] से प्रहार करनेवाला ॥ ६४ ॥

सपादकोशावरणैर्भागैः कुर्यात्तु सौप्तिकम् ।
कोपादुग्रजवोपेतैर्नरैर्वा खङ्गपाणिभिः ॥ ६५ ॥

उन सोते हुओंका विभाग करके, चरण पर्यन्त भयकर आवरण धारणकर जिससे राक्षसादिकी प्रतीतिहो वधकरे अथवा खङ्गपाणि क्रोधसे महावेगकी प्राप्त हुए पुरुषोंद्वारा ॥ ६५ ॥

प्रति सूर्यं महावातं हन्यात्संमीलितेक्षणम् ।
इत्येवं कूटयुद्धेन हन्याच्छत्रुं लघूत्थितः ॥ ६६ ॥

सूर्यके सन्मुख वा आँधीके सन्मुख मिची आँखोंवाली शत्रुसेनाका वध करावे इसप्रकार कूटयुद्धद्वारा किंचित् श्रमसेही शत्रुका वधकरे ॥ ६६ ॥

नीहारस्तिमिरं गावः स्वभ्राद्रिवननिम्नगाः ।
वदन्ति शत्रुमित्यादि छत्रं सप्त प्रकीर्त्तितम् ॥ ६७ ॥

कुहरा अंधकार, गौ [गौओंके भागनेसे उठी धूरि] मेघ, पर्वत, वन और नदी यह सातप्रकारका शत्रुरूप छत्रका अर्थात् घेराहै इसको जानै ६७

साधुप्रवृत्तो व्यवसायवर्त्ती यानप्रकारेण परान्निहन्यात् ।
चरैः समावेदिततत्प्रचारः शङ्केत तेनैव ततोऽप्रमत्तः ॥ ६८ ॥

भलीप्रकारसे प्रवृत्तिवाला, उद्योगशीलराजा, इस चढाईके प्रकारको अवलम्बन करके शत्रुको मारै, और दूतोंसे भलीप्रकार उसकी गति जानकर सावधान हुआ शत्रुसे शंकित रहै ॥ ६८ ॥

नियतमिति निहन्यात्कटयुद्धेषु शत्रुं
न हि निरयाति धर्मच्छद्मना शत्रुनाशः ।
अचकितमिव सुप्तं पाण्डवानामनीकं
निशि सुनिशितशस्त्रो द्रोणसूनुर्जघान ॥ ६९ ॥

इसप्रकार कूटयुद्धसे शत्रुका निश्चित वधकरै, इसप्रकार शत्रुनाशसे भी अधर्म वा नरक नहीं होता । देखो विश्वासपूर्वक सोईहुई पाण्डवोंकी सेनाको भारतमें शस्त्र लेकर द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने मारडाला था ॥ ६९ ॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे सैन्यबलाबलं सेनापतिप्रचारः प्रयाणव्यसनरक्षणं कूटयूद्धविकल्पश्च
अष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

इति श्रीकामन्दकीये नीतिसारे भाषाटीकायां सैन्यबलाबलं सेनापति
प्रचारः प्रयाण व्यसनरक्षणं कुटयुद्ध विकल्पश्च
अष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

ऊनविंशः सर्गः १९.

प्रयाणे पूर्वजापित्वं वनदुर्गप्रवेशनम् ।
अकृतानाञ्च मार्गाणां तीर्थानाञ्च प्रवर्त्तनम् ॥ १ ॥

गमनमें प्रथम सम्मति कर अग्रगामी होना, वन और दुर्गमस्थलमें प्रवेश करजाना जहा मार्ग नहीं है वहा मार्ग कर देना, नदी समूहोंके घाट उतरने लायक कर देना ॥ १ ॥

तोयावतारसन्तारावेकाङ्गविजयस्तथा ।
अभिन्नानामनीकानां भेदनं भिन्नसंग्रहः ॥ २ ॥

जलोंमें अवगाहन पारगमनका मार्ग करना एकही अंगसे विजय देना सघट्ट हुई सेनाको छिन्न भिन्न कर देना, तथा छिन्न भिन्न हुई सेनाको घेरकर इकट्ठी कर देना ॥ २ ॥

विभीषिकाविघातश्च प्राकारद्वारभञ्जनम् ।
कोपनीतिभयत्राणं हस्तिकर्म प्रचक्षते ॥ ३ ॥

प्राप्त हुए भयका निवारण करना, परिखा और द्वारका तोड देना, कोप नीतिके भयसे रक्षाकरना यह हाथियोंका कार्य कहा है ॥ ३ ॥

वनदिङ्मार्गप्रचयो वीवधासाररक्षणम् ।
अनुयानापसरणे शीघ्रं कार्योपपादनम् ॥ ४ ॥

वन दिशा मार्गकी खोजा भारढोनेकी वहिर्गासेना और धान्यकी रक्षा अपसरणमें पीछे गमन शीघ्रकार्यका सम्पादन करना ॥ ४ ॥

दीनानुसरणञ्चैव कोटीनां जघनस्य च ।
इत्यश्वकर्म पत्तेश्च सर्वदा शस्त्रधारणम् ॥ ५ ॥

भीत हुएकी रक्षा, शत्रुके सन्मुख गमन, वक्रगतिसे प्रहार यह सब अश्व अर्थात् घोडेके कर्म है, और सदा शस्त्रका धारण करना यह पैदल सैनिकोंका कर्म है ॥ ५ ॥

शोधनं कूपतीर्थानां मार्गाणां शिबिरस्य च ।
यवसादि च यत्किञ्चिद्विज्ञेयं विश्वकर्मवत् ॥ ६ ॥

कूप और तीर्थ स्थानोंका शोधन करना मार्ग और छावनियोंका शोध और जो कुछ सब जो धान्य आदिकी सामग्री है उसको भलीप्रकार विश्वकर्मकी समान ज्ञानमें रखना ॥ ६ ॥

जातिस्थानं वयःस्थानं प्राणिनां मर्मवेदिता ।
तेजः शिल्पं शीघ्रगत्वं स्थैर्यं साधुविधेयिता ॥ ७ ॥

जातिस्थान, अवस्थास्थान, प्राणियोंके मर्मका ज्ञान, तेज कारीगरी कौशल शीघ्रगति, स्थिरता, साधुतापूर्वक वा भली प्रकार कार्यका विधान ॥७॥

स्वव्यञ्जनाचारवतां पत्त्यश्वरथवाजिनाम् ।
इति लक्षणमेतेन युक्तान्कर्मसु योजयेत् ॥ ८ ॥

अपने प्रगट कार्यमें आचारवाले, पैदल, अश्व, रथ, आरोहियोंके यह लक्षण हैं, इनको यथा योग्य अपने २ कार्योंमें नियुक्त करै ॥ ८ ॥

सस्थूणच्छिन्नवल्मीकवृक्षगुल्मापकण्टका ।
सापसारा पदातीनां भूर्नैव विषमा मता ॥ ९ ॥

पैदलोंके निमित्त ठूंठ, छिन्न, बँबईवाली, वृक्ष गुल्म लता काँटोंसे संकीर्ण तथा विषम ऊँची नीची भूमि विचरण करनेके योग्य नहीं है ॥९॥

अल्पवृक्षोपला छिद्रा लतिका विदरा स्थिरा ।
निःशर्करा च निष्पङ्का सापसारा च वाजिभूः ॥ १० ॥

थोडेवृक्ष और पाषाणवाली, अल्पछिद्र और लतावाली, दरार रहित, स्थिर, कंकररहित कीच और दल दलसे हीन भूमि, घोडोंके विचरण करने योग्य होतीहै ॥ १० ॥

निःस्थाणुसिकतापङ्का निर्वल्मीकोपलासना ।
केदारव्रततिश्वभ्रवृक्षगुल्मादिवर्जिता ॥ ११ ॥